अध्याय-4

आर्थिक विकास की ओर

कम विकसित देशों में बेरोज़गारी की समस्या

यद्यपि एक विकसित अर्थव्यवस्था में उसकी अपनी कार्यशील जनसंख्या के लिए पूर्ण रोज़गार प्राप्त करने की समस्या का समाधान हमेशा आसान नहीं होता किन्तु इसकी कल्पना कर पाना निश्चित रूप से ही तुलनात्मक रूप से अधिक आसान होता है।

विकसित अर्थव्यवस्था के पास अनिवार्यत: एक इतना बड़ा पूंजी-ढांचा रहता है जो श्रम-शक्ति की तुलना में पर्याप्त होता है। इसका अर्थ है कि जब पूंजी का पूरा-पूरा प्रयोग किया जाता है तो श्रम-शक्ति को भी पूरा रोज़गार प्राप्त हो जाता है। इस स्थिति में जो मुख्य समस्या बच रह जाती है वह है पूंजी ढांचे का पूरा-पूरा उपयोग करना, काफी बड़ी मात्रा में उत्पादन करना, और इसे बाज़ार में लाभदायक ढंग से बेचना। इस प्रक्रिया में देश के सभी कामगारों को लाभपूर्ण रोज़गार मिल सकेगा। किन्तु हमारी जैसी एक विकासशील अर्थव्यवस्था में सभी श्रमिकों को रोज़गार देने की समस्या अधिक जटिल है और इसके कई कारण हैं।

एक विकासशील अर्थव्यवस्था को कम "कम विकसित देश" (अथवा एल० डी० सी०) भी कहा जाता है। एक कम विकसित देश में वस्तुत: जो कम विकसित होता है वह इसकी उपलब्ध-श्रम-शक्ति के मुकाबले इसका पूंची-ढांचा। अर्थव्यवस्था के पूंजी-ढांचे से हमारा आशय खेतों और कारखानों में मशीनों व उपकरणों से ही नहीं होता बल्कि सामाजिक व आर्थिक संरचनाओं से भी होता है जिसका वर्णन हमने पिछले अध्याय में किया है। ये आधारिक संरचनाएं ही वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन और वितरण को अधिक आसान व सहज बना सकती हैं। एक विकसित अर्थव्यवस्था को एक तुलनात्मक रूप से लम्बे समय के दौरान इस प्रकार के पूंजी-ढांचे को बना पाने का ऐतिहासिक लाभ प्राप्त है। कम विकसित देशों की समस्या यह है कि उनके अपने इतिहास की अवधि में श्रम शक्ति काफी अधिक रही है अथवा यों कहें कि पूंजी-ढांचा अभी भी इतना छोटा है कि तकनोलॉजी के सन्दर्भ में दोनों के बीच मेल बिठा पाना काफी कठिन है।

रोज़गार के बारे में एक विकासशील अर्थव्यवस्था को जिस कठिनाई का सामना करना पड़ता है वह है पूंजी-ढांचे और देश में उपलब्ध श्रम-शक्ति के बीच मेल का होना। अत: भारत जैसी एक विकासशील अर्थव्यवस्था में बेरोज़गारी का संकट आंशिक रूप से अपहिरार्य है क्योंकि सर्वोत्तम उपलब्ध तकनोलॉजी के सन्दर्भ में पूंजी-ढांचा कुल श्रम-शक्ति को कभी भी पूरी तौर पर नहीं पा सकता।

उपलब्ध पूंजी और श्रम शक्ति के आकार के बीच का यह बेमेल कृषि और उद्योग दोनों में लगातार बेरोज़गारी की समस्या का निर्माण करता है। किन्तु भारतीय कृषि की दो ऐसी और अतिरिक्त विशेषताएं हैं जिन्होंने अर्थव्यवस्था की बेरोज़गारी की समस्या के समाधान को और भी अधिक बना दिया है।

कृषि का भविष्य मुख्य रूप से दो बातों पर निर्भर करता है : (अ) क्या और किस सीमा तक किसान आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र है ? और (ब) जब कभी उपयुक्त अवसर उपस्थित होता है तब क्या वह सुधार के लिए आवश्यक निर्णय लेने की स्थिति में है ? दुर्भाग्य से, देश के अधिकांश भागों में भारतीय कृषि को भूधारण की एक ऐसी प्रणाली के आधार पर चलाया जाता है जो असल में भूमि जोतने वाले किसान को

बहुत कम अथवा न के बराबर ही अधिकार देती है। यहां तक कि इसने तुलनात्मक रूप से छोटी जोतों के स्वामियों को भी लगातार दरिद्र ही बनाकर रखा है। इस प्रकार या तो किसान को उत्पादन की विधि में परिवर्तन करने का कोई अधिकार ही प्राप्त नहीं है अथवा यदि वह भूमि का अधिकृत स्वामी है तब भी ऐसा कर पाने के लिए उसके पास पर्याप्त आर्थिक सामर्थ्य नहीं है। भारत की ग्रामीण जनसंख्या के अधिकांश भाग की गरीबी का यही मुख्य कारण है। एक औसत परिवार में एक छोटे खेत का मालिक इतना गरीब है कि वह उत्पादन के परम्परागत तरीकों के स्थान पर नए तरीकों के स्थान पर नए तरीकों को अपनाने के लिए आवश्यक न्यूनतम निवेश कर पाने में भी समर्थ नहीं होता है। एक किराए पर लगाया गया कृषि श्रमिक जिसे स्वामित्व के कोई अधिकार प्राप्त नहीं हैं, किसी भी स्थिति में कृषि के आधुनिक तरीकों को नहीं अपना सकता। इसके परिणामस्वरूप देश के ग्रामीण क्षेत्र में निम्न उत्पादकता और एक विशेष प्रकार की बेरोज़गारी अथवा अल्प-बेरोज़गारी की समस्या पाई जाती है।

इस प्रकार की बेरोज़गारी के प्रकार को हम एक सरल उदाहरण से समझ सकते हैं. माना कि यदि खेती के आधुनिक तरीकों को अपनाया जाए तो एक पारिवारिक खेत पर खेती करने के लिए तीन कार्यशील सदस्यों वाले परिवार में से केवल दो सदस्यों की ही आवश्यकता है, किन्तु उस पारिवारिक खेत पर सभी तीनों सदस्य लगे हुए हैं क्योंकि पुराने तरीके जारी रहते हैं। उत्पादन के आधुनिक तरीकों की दृष्टि से वास्तव में जितने लोगों की आवश्यकता होती है उसकी तुलना में कृषि उत्पादन में अधिक लोगों के लगे होने की स्थिति को ही ''प्रच्छन्न बेरोज़गारी'' की स्थिति कहा जाता है। खुली बेरोज़गारी की तुलना में प्रच्छन्न बेरोज़गारी का समाधान कर पाना अधिक कठिन है क्योंकि उत्पादन के वर्तमान तरीकों और शायद ग्रामीण परिवारों के जीवन के वर्तमान तौर-तरीकों तक में परिवर्तन लाए बिना इसे समाप्त नहीं किया जा सकता।

हमें याद रखना चाहिए कि किसान के उत्पादन के परम्परागत तरीकों से जुड़ा रहने का कारण सम्भवतः उसकी अज्ञानता ही नहीं है। वह आधुनिक तकनोलॉजी को अक्सर इसलिए भी नहीं अपना पाता क्योंकि भूधारण की एक शोषणकारी प्रणाली उसे गरीबी में बनाए रखती है और उसकी खेती की भूमि पर उसके अधिकारों को नकारती है अथवा काफी कम कर देती है।

एक तीसरा कारण भी है जो ग्रामीण क्षेत्र में बेरोज़गारी के एक दूसरे प्रकार को जन्म देता है। यही कारण स्वयं कृषि कार्यों की प्रकृति में छिपा हुआ है। कम से कम पूरे समय के व्यवसाय के रूप में तो खेती का काम निश्चित ही एक मौसमी व्यवसाय है। भारत में ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें साल भार में केवल एक ही मुख्य फसल पैदा की जाती है किन्तु यदि बहु-फसली खेती होती है तब भी कृषि का कार्य वर्ष के सभी महीनों में नहीं चलता। इस प्रकार, हमारी ग्रामीण कार्यशील जनसंख्या को केवल मात्र कृषि के माध्यम से वर्ष-भर पूर्णतया कार्य में नहीं लगाए रखा जा सकता है। अतः, किसानों के लिए वर्ष के एक भाग के दौरान कृषि कार्य से बाहर सम्भवतः ग्रामीण उद्योग अथवा ग्रामीण सेवाओं के किसी न किसी रूप में लाभकारी रोजगार की सम्भावनाओं का पता लगाने की समस्या है।

अब हम एक विकासशील अर्थव्यवस्था को बेरोज़गारी की जिन विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनका सारांश प्रस्तुत कर सकते हैं। इनके पाए जाने के तीन कारण हैं :

1. अर्थव्यवस्था के पूंजी-ढांचे और उपलब्ध श्रम-शक्ति के आकार का बेमेल होना। इसके कारण ''संरचनात्मक बेरोज़गारी'' उत्पन्न होती है।

2. कृषि में, मुख्यत: गरीबी और वर्तमान भूधारण प्रणाली के अन्तर्गत खेती करने वाले किसानों को स्वामित्व के अधिकार के अभाव के कारण, उत्पादन के परम्परागत तरीकों का जारी रहना। यह ग्रामीण क्षेत्र में प्रच्छन्न बेरोज़गारी को जन्म देता है।

3. समस्त कृषि कार्यों की मौसमी प्रकृति ग्रामीण क्षेत्र में खाली मौसम में जबकि किसानों, विशेष रूप से किराए पर लगाए गए कृषि श्रमिकों के पास बहुत थोड़ा ही काम होता है, बेरोज़गारी पैदा कर देती है। इसके परिणामस्वरूप कृषि में लगे श्रमिकों के लिए ''मौसमी बेरोज़गारी'' उत्पन्न हो जाती है।

हमें याद रखना है कि ऊपर बताए गए तीन कारणों के परिणामस्वरूप एक विकासशील अर्थव्यवस्था में जिन प्रकारों की बेरोज़गारी उत्पन्न होती है वह बेरोज़गारी के उस सामान्य प्रकार के अलावा है जो विकसित देशों सहित सभी अर्थव्यवस्थाओं में पाई जाती है। यह वह बेरोज़गारी है जो चिरस्थाई नहीं होती बल्कि समय-समय पर अर्थव्यवस्था में जब वस्तुओं की बाज़ार मांग घटती बढ़ती है तो साथ-साथ ही आती जाती रहती है। इसे ''चक्रीय बेरोज़गारी'' कहा जाता है।

ग्रामीण क्षेत्र के बेरोज़गार (अथवा अल्प-बेरोज़गार) श्रमिकों में काम की तलाश में शहरी क्षेत्र में पलायन कर जाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रकार, संगठित उद्योगों में नियमित श्रमिकों के अलावा, भारत के शहरों और औद्योगिक कस्बों में हमेशा गांवों से पलायन करके आये अतिरिक्त श्रमिकों का एक समूह भी पाया जाता है। वे शहरों और कस्बों में जो कुछ भी काम पा सकते हैं, उसकी ताक में रहते हैं। अतिरिक्त श्रमिकों के इस समूह में बेरोज़गार, अनियमित रूप से रोज़गार प्राप्त अथवा अनियमित मज़दूर, अथवा शहरी क्षेत्र के विभिन्न प्रकार के कामों में कम मज़दूरी पर लगे श्रमिक शामिल हैं। वे अभागे श्रमिक अक्सर कार्यशील जनसंख्या के असंगठित क्षेत्रों में माने जाते हैं। इसमें भी कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है कि हम अधिकांशत: समाज के कमज़ोर वर्ग के लोगों, महिलाओं और बच्चों (जिनका आसानी से शोषण किया जा सकता है अथवा अनियमित रूप से रोज़गार पर लगाया जा सकता है) की ही इस असंगठित क्षेत्र में भारत के शहरों व कस्बों के इर्द-गिर्द अनियमित अथवा कम मज़दूरी पर काम करने वाले लोगों के रूप में पाते हैं।

भारतीय अर्थव्यवस्था की कार्यशील जनसंख्या

जो लोग वास्तव में घरेलू उत्पाद को उत्पन्न करने वाली आर्थिक गतिविधियों में लगे होते हैं वे ही अर्थव्यवस्था की कार्यशील जनसंख्या अथवा कार्य-शक्ति का निर्माण करते हैं। इस कार्य शक्ति में जब बेरोज़गार श्रमिकों की संख्या को भी जोड़ देते हैं तो हमें देश की कुल श्रम-शक्ति का पता लग जाता है।

1981 की जनगणना से पता चलता है कि भारत की कार्य-शक्ति में लगभग 30 करोड़ लोग थे। इसमें से लगभग 6 करोड़ शहरी क्षेत्र में और लगभग 24 करोड़ ग्रामीण क्षेत्र में थे। भारत के ग्रामीण और शहरी क्षेत्र के सभी श्रमिकों को जनगणना के अन्तर्गत नौ श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया था :

1. किसान
2. कृषि श्रमिक
3. पशुपालन, वनोद्योग, मत्स्य पालन, आखेट एवं बागान, फलवाटिकाएं एवं सम्बन्धित क्रियाएं।
4. खनन एवं उत्पनन में श्रमिक।
5. (अ) परिवार उद्योगों एवं (ब) कारखानों और अन्य गैर-परिवारों के उद्योगों में विनिर्माण, संश्लेषण, सर्विसिंग एवं मरम्मत के कार्यों में श्रमिक।

6. निर्माण कार्यों में श्रमिक।

7. परिवहन, भण्डारण, एवं संचार में श्रमिक।

8. अन्य सेवाओं में श्रमिक।

जैसा कि स्वाभाविक है कि किसान, कृषि-श्रमिक आदि ज्यादातर देश के ग्रामीण क्षेत्र में ही पाए जाते हैं किन्तु कुछ कार्य शहरी क्षेत्र में भी चलता है। इसी तरह, यद्यपि अधिकांश विनिर्माण श्रमिक शहरी क्षेत्र में हैं, तो भी कुछ विनिर्माण कार्य ग्रामीण क्षेत्रों में दिखाई देता है।

नीचे की तालिका 9 में हम 1971 और 1981 की जनगणनाओं में भारत के शहरी और ग्रामीण श्रमिकों के बीच जैसा विभाजन बताया गया है, उसे देख सकते हैं।

इस तालिका से आसानी से यह गणना की जा सकती है कि 1971 से 1981 के बीच ग्रामीण क्षेत्र की तुलना में शहरी क्षेत्र में श्रमिकों की संख्या में अधिक तेज़ी से वृद्धि हुई है (कार्यशील जनसंख्या की वृद्धि दर शहरी क्षेत्र में 45 प्रतिशत और ग्रामीण क्षेत्र में 18 प्रतिशत रही है)। यह ग्रामीण क्षेत्र से शहरी क्षेत्र की ओर श्रमिकों एवं उनके परिवारों के लगातार तेज़ी से पलायन करते जाने की ओर संकेत करती है। यह एक ऐसा कारण है जो हमारे शहरों और कस्बों की लगातार वृद्धि का प्रमुख कारण है। भारतीय अर्थव्यवस्था के शहरी क्षेत्र में भी एक जैसी वृद्धि नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि रोज़गार एवं अन्य दूसरे आर्थिक अवसर जो कार्यशील लोगों, और उनके परिवारों को शहरों व कस्बों की ओर आकर्षित करते हैं, सभी शहरी क्षेत्रों में एक जैसे नहीं पाए जाते हैं।

भारत के शहरी क्षेत्र में 3,000 से भी अधिक शहरी इकाइयां (शहर और कस्बे) हैं। इनमें से केवल 12 ही एक मिलियन अथवा उससे अधिक की जनसंख्या वाले बड़े शहर हैं। इनमें से प्रत्येक के इर्द-गिर्द एक बड़ा "नगर-समूह" है। एक नगर-समूह मुख्य शहर के साथ शहरी बस्तियों का एक झुण्ड होता है तथा इसके इर्द-गिर्द के कस्बे अथवा दूसरे शहरी क्षेत्र इस शहर की अर्थव्यवस्था से जुड़े होते हैं। इस प्रकार यह स्वयं शहर का ही विस्तार होता है किन्तु यह विस्तार इसकी नगरपालिका की निश्चित सीमाओं से काफी दूर-दूर तक होता है। उदाहरण के लिए, 1981 की जनगणना के अनुसार कलकत्ता के नगर निगम के क्षेत्र में लगभग 4 मिलियन निवासी हैं। किन्तु कलकत्ता के नगर-समूह की जनसंख्या जोकि भारत में सर्वाधिक है, 8.3 मिलियन हैं। तालिका 10 में 1981 की जनगणना के अनुसार बारह बड़े नगर-समूहों की जनसंख्या के अनुमानित आंकड़े हैं।

तालिका-9
भारत में शहरी और ग्रामीण श्रमिक

(करोड़ = 00,00,000)

	1971 की जनसंख्या			1981 की जनसंख्या		
	कुल	शहरी	ग्रामीण	कुल	शहरी	ग्रामीण
कुल श्रमिक	23.6	3.8	19.8	28.9	5.5	23.4
कुल जनसंख्या	54.8	10.9	43.9	68.5	16.0	52.5

तालिका-10
भारत के नगर-समूह

क्रं. सं.	क्रोड शहर	जनसंख्या (मिलियन में)
1.	कलकत्ता	8.3
2.	बम्बई	8.2
3.	दिल्ली	5.1
4.	मद्रास	3.3
5.	बंगलूर	2.5
6.	हैदराबाद	2.1
7.	अहमदाबाद	2.0
8.	कानपुर	1.5
9.	पूना	1.2
10.	नागपुर	1.2
11.	लखनऊ	1.0
12.	जयपुर	1.0

भारत की विभिन्न शहरी इकाइयों के बीच शहरी जीवन के आकर्षण समान रूप से नहीं पाए जाते हैं। यह असमानता निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट की जाती है : भारतीय अर्थव्यवस्था के शहरी क्षेत्र में रहने वाले लोगों की आधे से अधिक संख्या 1,00,000 व्यक्तियों या इससे अधिक की जनसंख्या वाले "शहरों" में रहती है। फिर इस जनसंख्या की आधे से केवल थोड़ी-सी कम संख्या ही बाहर बड़े नगर-समूहों अथवा "महानगरों" में रहती है जिनका कि हमने तालिका 10 में उल्लेख किया है। इस प्रकार, शहरी इकाइयों में रहने वाले लोगों में से भी ज्यादातर लोग कस्बों की बजाय शहरों में केन्द्रित हैं, और शहरी निवासियों में भी प्राथमिकता, स्पष्ट रूप से, महानगरों की है। अधिक अच्छे अवसरों की तलाश में ग्रामीण क्षेत्र शहरी क्षेत्र की ओर पलायन करके आने वाले श्रमिकों का परिणाम अंततोगत्वा भारत के बड़े-बड़े महानगरों में और इनके इर्द गिर्द जनसंख्या के भारी केन्द्रीकरण के रूप में होता है।

3. भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का स्थान

हम अपनी अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित कुछ प्रमुख आंकड़ों का उल्लेख पहले ही कर चुके हैं। ये आंकड़े बताते हैं कि अपने तुलनात्मक पिछड़ेपन के बावजूद, कृषि अर्थव्यवस्था की आय का आज ही मुख्य स्रोत नहीं है, बल्कि आगे आने वाले वर्षों तक भी इसके ऐसे ही बने रहने की सम्भावना है। इस सन्दर्भ में हम इस खण्ड में भारत के आर्थिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कृषि के योगदान की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

ग्रामीण क्षेत्र में आजीविका का स्रोत

हमारे ग्रामीण परिवारों के लिए कृषि ही आजीविका का सबसे मुख्य स्रोत है। यद्यपि गांवों में हमें, निश्चित ही, ऐसे परिवार भी मिल जाएंगे जिनके सदस्यों को किसानों के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा

सकता। उदाहरण के लिए, जुलाहे और कुम्हार जैसे दस्तकार होते हैं। ये कुटीर उद्योगों के द्वितीयक क्षेत्रों में काम करते हैं। ऐसे भी श्रमिक हैं जो ग्रामीण सेवाओं के ''तृतीयक क्षेत्र'' में अपनी आजीविका कमाते हैं। ये लोग हैं जैसे नाई, अध्यापक और धोबी। किन्तु कृषि पर निर्भर न करने वाले परिवारों की तुलना में पूर्णतया अथवा लगभग पूर्णतया कृषि पर निर्भर करने वाले परिवारों की कुल संख्या अभी भी भारत में काफी अधिक है।

इसके अलावा, गैर-कृषि ग्रामीण परिवारों के लिए भी कृषि आय का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्रोत है। एक काफी लम्बे समय से हमारे कुटीर-उद्योग तुलनात्मक रूप से पिछड़ी अवस्था में रहे हैं इसके परिणामस्वरूप हमारे दस्तकार को यह पता चल जाता है कि वह केवल कुटीर-उद्योग के सहारे अपना गुजर-बसर नहीं कर सकता। इसी तरह, ग्रामीण सेवाओं के व्यवसाय (जैसे नाई, अध्यापक आदि) भी इतनी पर्याप्त आमदनी वाले नहीं होते कि एक परिवार आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो सके। ऐसी अवस्था में यह आश्चर्यजनक नहीं है कि इन परिवारों की एक काफी बड़ी संख्या जिनसे हम सामान्यतः कृषि पर निर्भर रहने की अपेक्षा नहीं करते वह भी कभी-कभी एक महत्त्वपूर्ण सहायक व्यवसाय के रूप में इस पर निर्भर हो जाती है। यही कारण है कि लगभग समूचा ग्रामीण क्षेत्र और लोगों को एक काफी बड़ी संख्या भारी मात्रा में कृषि पर निर्भर पाई जाती है।

राष्ट्रीय आय और कृषि का योगदान

हमें याद होगा कि एक देश में उत्पादित अन्तिम वस्तुओं व सेवाओं के कुल योग को ही सकल घरेलू उत्पाद अथवा जी० डी० पी० कहा जाता है। यदि हम जी० डी० पी० में से पूंजी ढांचे की टूट-फूट एवं घिसावट के कारण होने वाले मूल्य ह्रास को घटा दें तो हमें शुद्ध घरेलू उत्पाद एवं एन० डी० पी० प्राप्त हो जाता है। यदि देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी करता है तो विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय उस देश की आय का एक अतिरिक्त स्रोत है। यदि इसे एन० डी० पी० में जोड़ दिया जाये तो राष्ट्रीय आय आ जाती है।

भारत के लिए हम इनमें से किसी भी योग (अथवा समाहार) को लें, हर स्थिति में कृषि का हम एक महत्त्वपूर्ण योगदान पाएंगे। उदाहरण के लिए 1987-1988 के शुद्ध घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा 29.2 प्रतिशत था और वह उसका एक सबसे बड़ा घटक थी। इसके विपररीत, विनिर्माण उद्योग का योगदान केवल 18.7 प्रतिशत था। यह, निस्सन्देह रूप से, एक विकासशील अर्थव्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। जब आर्थिक विकास की प्रक्रिया आगे बढ़ती है तो कृषि का योगदान घटता जाता है और उद्योगों का बढ़ता जाता है। ऐसा भारत में भी हो रहा है, किन्तु ऐसा अनुमान है कि आगे आने वाले काफी लम्बे समय तक भारत की राष्ट्रीय आय में कृषि सबसे बड़े अकेले घटक की भूमिका अदा करती रहेगी।

सरकारी राजस्व में कृषि का योगदान

राज्य एवं केन्द्रीय राजस्व में कृषि का प्रत्यक्ष योगदान नगण्य ही है। कृषि आय पर कोई केन्द्रीय आयकर नहीं है। कृषि आयकर राज्यों को जाता है, किन्तु इस मद से एकत्रित होने वाला कर-राजस्व बहुत थोड़ा-सा ही है। 1987-88 में संग्रहित कुल कृषि आयकर केवल मात्र 71 करोड़ रुपए था। 1988-89 (बजट अनुमान) में इसके 99 करोड़ होने की सम्भावना थी। किन्तु, केन्द्र एवं राज्य दोनों के राजस्व में कुछ अप्रत्यक्ष तरीकों से कृषि का योगदान निश्चित ही अच्छा-खासा कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, 1987-88 में केन्द्रीय सरकार ने उत्पाद शुल्कों और बिक्री कर से 28,000 करोड़

रुपए एकत्रित किए थे। इसी तरह उसी वर्ष राज्य सरकारों ने बिक्री कर और राज्य उत्पाद शुल्कों से 13,700 करोड़ रुपए से भी अधिक एकत्रित किया था। स्वाभाविक रूप से ही इन शुल्कों व करों में एक काफी बड़ा योगदान कृषि वस्तुओं (जैसे तम्बाकू, चाय और कॉफी) और ऐसी वस्तुओं जो कृषि उत्पादों को अपने मुख्य इन्पुट के रूप में प्रयोग करती हैं (जैसे वस्त्र एवं जूट आदि) का होता है।

ग्रामीण क्षेत्र में रोज़गार

यदि हम भारत की कार्यशील जनसंख्या से सम्बन्धित तालिका 9 को फिर से देखें तो एक सामान्य गणना से ही यह पता चल जाएगा कि 1981 की जनगणना में भारत की कुल कार्यशील जनसंख्या में ग्रामीण श्रमिकों का हिस्सा 80 प्रतिशत था। समस्त ग्रामीण श्रमिकों में से लगभग 82 प्रतिशत को जनगणना में अपने सामान्य व्यवसाय के रूप में कृषि में लगे हुए बताया गया था। जैसा कि हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि ऐसे बहुत से दूसरे ग्रामीण श्रमिक, जिन्हें इस प्रकार वर्गीकृत कर सकना सम्भव नहीं था, भी कृषि को ही एक द्वितीयक अथवा अनियमित व्यवसाय के रूप में अपनाए हुए हैं। अत: निम्न उत्पादकता और इसके परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्र की गरीबी के बावजूद कृषि ही भारतीय अर्थव्यवस्था में सबसे बड़ी संख्या में रोज़गार के अवसर प्रदान करती रही है। अर्थशास्त्रियों का ऐसा अनुमान है कि औद्योगिक विकास की एक अच्छी दर होने पर भी उद्योगों, विशेषकर शहरी क्षेत्र के बड़े पैमाने के उद्योगों द्वारा भविष्य में कोई बहुत बड़ी मात्रा में रोज़गार-अवसरों को प्रदान कर सकने की कोई बड़ी सम्भावना नहीं है। इस प्रकार कृषि केवल अभी ही श्रमिकों को सबसे बड़ी संख्या को रोज़गार प्रदान नहीं करती बल्कि पूर्णकालिक रोज़गार तथा सामान्यतया अर्थव्यवस्था के दूसरे क्षेत्रों में लगे श्रमिकों को आंशिक रोज़गार प्रदान करने की दृष्टि से भविष्य में भी सर्वाधिक विश्वसनीय स्रोत रहने वाली है। ऐसा इस सबके बावजूद रहने वाला है कि ग्रामीण क्षेत्र की वर्तमान दयनीय अवस्था, कृषि मज़दूरी की निम्न दर और गांवों में सामान्यतया रहन-सहन की खराब परिस्थितियों के कारण ग्रामीण श्रमिकों का कस्बों की ओर लगातार पलायन जारी है, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं।

इस प्रकार से भारतीय अर्थव्यवस्था में एक तरह की विरोधाभासपूर्ण स्थिति दिखाई देती है : शहरी क्षेत्र ग्रामीण क्षेत्र से श्रमिकों को अपनी ओर आकर्षित करता है और वे जो वहां ऊंची मज़दूरी एवं अच्छे रहन-सहन स्तर की तलाश में आते हैं, शहरी क्षेत्र उन सबको नियमित लाभपूर्ण रोज़गार में नहीं खपा पाता। दूसरी ओर, कृषि समेत ग्रामीण क्षेत्र में दीर्घकाल में अपनी कार्यशील जनसंख्या को रोज़गार प्रदान कर सकने की सम्भावना तो है किन्तु वह ऐसा गरीबी और निम्न उत्पादकता के कारण नहीं कर पाता। गरीबी और निम्न उत्पादकता, अन्यायपूर्ण भूधारण प्रणाली, उत्पादन के पारम्परिक तरीकों, अपर्याप्त भण्डारण व विपणन सुविधाओं एवं अन्य बाधक तत्त्वों का परिणाम है।

उद्योगों का योगदान

उद्योग में कृषि के योगदान को भारतीय अर्थव्यवस्था में दो तरह से देखा जा सकता है : कच्चा माल प्रदान करने वाले के रूप में और औद्योगिक उत्पादों के मुख्य क्रेता के रूप में।

भारतीय उद्योगों द्वारा कच्चे माल के रूप में जिन कृषि उत्पादों का प्रयोग किया जाता है, उनमें मुख्य हैं : कपास, जूट, तिलहन और गन्ना। इन सबका उत्पादन देश में ही पर्याप्त मात्रा में किया जाता है। तालिका 11 में 1986-87 और 1987-88 (अन्तिम) में इन प्रमुख कच्चे मालों के उत्पादन को बताती है।

तालिका 11
उद्योग में इन्पुट्स के रूप में भारत के कृषि उत्पाद

	1986	1987-88 (अन्तिम)
कपास (मिलियन गांठे)	6.9	6.4
जूट (मिलियन गांठे)	7.4	5.8
तिलहन (मिलियन टन)	11.3	12.4
गन्ना (मिलियन टन)	186.1	196.7

यह ध्यान रखने की बात है कि भारत के वस्त्र एवं अन्य उद्योगों में कपास और जूट का योगदान धीरे-धीरे कम हो रहा है। पिछले कई वर्षों से यह प्रवृत्ति देखने में आई है और इसका एक कारण पोलिस्टर जैसे मनुष्य-निर्मित रेशे का अस्तित्व में आ जाना है।

कृषि में लगे लोगों द्वारा भारतीय उद्योगों में उत्पादित उपभोक्ता वस्तुओं की काफी बड़ी मात्रा में मांग की जाती है। यद्यपि ये उतनी मात्रा में तो इन वस्तुओं को नहीं खरीद पाते जितनी मात्रा में सम्पन्न नगर-निवासी खरीदते हैं। किन्तु उर्वरक एवं कीटनाशी जैसे कृषि इन्पुट्स का अब भारतीय कृषि में काफी बड़ी मात्रा में प्रयोग किया जाता है और इन मांगों ने भारतीय उद्योगों को बढ़ाया है। उदाहरण के लिए यद्यपि भारत को अभी भी उर्वरकों का आयात करना पड़ता है किन्तु इनका उत्पादन लगातार बढ़ रहा है और वह धीरे-धीरे मांग को पूरा कर रहा है। 1987-88 में भारतीय उर्वरक उद्योग ने भारतीय कृषि द्वारा प्रयुक्त उर्वरकों की कुल मात्रा के 79 प्रतिशत का उत्पादन किया था जबकि 1980-81 में इसने 55 प्रतिशत से भी कम का ही उत्पादन किया था दूसरे शब्दों में, भारतीय कृषि में उर्वरकों की बढ़ती हुई मांग ने पिछले दशक के दौरान भारत में इस उद्योग के विकास को प्रोत्साहित किया है।

खाद्य आवश्यकताओं की पूर्ति

कुछ विशेषज्ञों ने अनुमान लगाया है कि भारत में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की आवश्यकता लगभग 172 कि०ग्रा० प्रति वर्ष की है। इस आधार पर, भारत खाद्यान्नों में लगभग आत्मनिर्भर हो चुका है क्योंकि 1981-85 के दौरान प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धि लगभग 166 कि०ग्रा० तक पहुंच गई थी किन्तु फिर भी काफी बड़ी मात्रा में कुपोषण है क्योंकि, जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, लगभग आधी जनसंख्या उन्हें खाद्यान्नों की जिस न्यूनतम मात्रा की आवश्यकता है उसे भी नहीं खरीद पाती।

गेहूं और चावल जैसे मुख्य खाद्यान्नों के अलावा भारत के लोगों के लिए पोषण का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत दालें भी हैं। 1985-86 में दालों का प्रति व्यक्ति उपभोग केवल 14.8 कि०ग्रा० वार्षिक ही था जबकि 25.5 कि०ग्रा० वार्षिक का न्यूनतम स्तर होना चाहिए था। इसके अलावा, दालों की पूर्ति में कमी का नुक्सान अमीरों की तुलना में गरीबों को ही अधिक उठाना पड़ता है क्योंकि अमीर लोग तो अधिक महंगे खाद्य पदार्थों को खरीद कर इस नुकसान को पूरा कर लेते हैं।

भारत की विशाल जनसंख्या के लिए तिलहनों का उत्पादन भी अपर्याप्त है। आयातों को शामिल कर लेने के बाद भी 1986-87 में खाद्य तेलों की प्रति व्यक्ति उपलब्धि केवल मात्र 5.5 कि०ग्रा० थी जबकि स्वास्थ्य की दृष्टि से 14 कि०ग्रा० की सिफारिश की गई थी।

इस प्रकार यद्यपि कुल मिलाकर कृषि आज भारतीय जनसंख्या की अधिकांश खाद्यान्न आवश्यकता को पूरा कर देती है किन्तु पोषण के दो अनिवार्य स्त्रोतों की दृष्टि से स्थिति अभी भी असन्तोषजनक है, ये दो स्त्रोत हैं : दालें और खाद्य-तेल।

कृषि और भारत का निर्यात व्यापार

कृषि का विशेषकर इसकी जूट और कपास जैसी गैर-खाद्य फसलों अथवा चाय और कॉफी जैसी बागान फसलों का भारत के निर्यात व्यापार में महत्त्वपूर्ण योगदान है। कॉफी, चाय, खल, तम्बाकू, आलू, फल व सब्जियां, मसाले, चावल और कपास जैसे अनेकों कृषि-उत्पाद भारत की मुख्य निर्यात मदें हैं। 1987-88 में ये सब मिलकर हमारी निर्यात आय का लगभग 15 प्रतिशत थी। प्रत्यक्ष रूप से निर्यात किए जाने वाले उत्पादों के अलावा, कृषि के भारत के निर्यात व्यापार में योगदान को मापने के लिए हमें सूती धागों और सूती वस्त्रों, सूती वस्त्र से निर्मित सिले-सिलाये कपड़ों, नारियल जटाओं और नारियल जटाओं से निर्मित वस्तुओं, जूट के धागों और जूट वस्तुओं के निर्यात को भी शामिल करना चाहिए क्योंकि इन सबका उत्पादन भी मुख्य रूप से भारतीय कृषि द्वारा उत्पादित कच्चे माल से ही होता है। ये कृषि-आधारित वस्तुएं भी हमारी कुल निर्यात आय का लगभग 15 प्रतिशत या उससे अधिक हैं अतः, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि का हमारी निर्यात आय में लगभग 30 प्रतिशत हिस्सा है। हमारे कुछ कृषि-उत्पादों का तो एक काफी बड़ा भाग निर्यात बाज़ार में ही जाता है। उदाहरण के लिए, हमारे चाय बागानों के उत्पादन के लगभग 30 प्रतिशत भाग का निर्यात किया जाता है। वास्तव में तो पहले यह अनुपात इससे भी काफी बड़ा हुआ करता था, जैसे 1970-71 में यह 47 प्रतिशत था। कॉफी एक दूसरा प्रमुख निर्यातोन्मुख उत्पाद है। 1987-88 में भारत के कॉफी उत्पादन का 54 प्रतिशत निर्यात किया गया था। इसी तरह, जूट की वस्तुएं (जो भारत में उत्पादित कच्चे जूट का प्रयोग करती हैं) भी निर्यातोन्मुख उत्पाद ही रही हैं। 1970-71 में इसके कुल उत्पादन के 50 प्रतिशत से भी अधिक भाग का निर्यात किया गया था। यद्यपि जूट वस्तुओं की विश्व मांग में कमी हो जाने के कारण अब इसके उत्पादन के लगभग 20 प्रतिशत भाग का ही निर्यात किया जाता है किन्तु फिर भी यह अनुपात अभी भी काफी अच्छा अनुपात है।

भारतीय निर्यातों में कृषि का योगदान अभी भी काफी बड़ा है किन्तु उत्पादन में वृद्धि के बावजूद इसमें घटने की प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। इसका कारण यह है कि एक ओर तो कुछ वस्तुएं जैसे चाय की विश्व मांग घटती जा रही है। दूसरी ओर जनसंख्या की वृद्धि और आय की वृद्धि इन दोनों ही कारणों से घरेलू मांग बढ़ती जा रही है। इस प्रकार, 1980-81 से 1987-88 के बीच भारतीय चाय का उत्पादन 568 मिलियन कि०ग्रा० से बढ़कर 685 मिलियन कि०ग्रा० हो गया, किन्तु निर्यात 229 मिलियन कि०ग्रा० से घटकर 197 मिलियन कि०ग्रा० ही रह गया।

कृषि एवं आर्थिक विकास

हमारे अब तक के विवेचन के आधार पर हमारी अर्थव्यवस्था के बारे में दो निष्कर्ष स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आते हैं : प्रथम, भारतीय कृषि तुलनात्मक रूप से पिछड़ी हुई अवस्था में है और इसके कई कारण हैं।

(अ) ग्रामीण क्षेत्र की सामान्य गरीबी, (ब) भू-धारण की अन्यायपूर्ण प्रणाली जो किसानों की एक काफी बड़ी संख्या को उनकी खेती में ज़मीन के स्वामित्व अथवा निर्णय लेने के अधिकारों से वंचित कर देती हैं, और (स) उत्पादन के के पुराने तरीके जो देश के कई भागों में अभी भी प्रचलित में हैं। कृषि क्षेत्र के ये तीनों पहलू एक-दूसरे से सम्बन्धित भी हैं। द्वितीय, कुल मिलाकर भारतीय अर्थव्यवस्था के स्वस्थ

आर्थिक विकास के लिए इन तीनों ही पहलुओं में क्रान्तिकारी सुधार करना एक प्राथमिक आवश्यकता है क्योंकि आगे आने वाले काफी लम्बे समय तक भारतीय अर्थव्यवस्था के घरेलू उत्पाद में कृषि का मुख्य योगदान रहने वाला है। दूसरे शब्दों में, यदि हम आर्थिक विकास के लक्ष्य को पूरा करना चाहते हैं तो हमें सबसे पहले अर्थव्यवस्था के पुनरोद्धार की प्रक्रिया पर जोर देना होगा।

आगे के खण्डों में हम भारतीय कृषि की समस्याओं और सम्भावनाओं का विवेचन करेंगे। हम सबसे पहले अपने कृषक-परिवारों के एक सरल आर्थिक वर्गीकरण के संक्षिप्त विवेचन से प्रारम्भ करेंगे-यह हमें कृषि समस्याओं को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होगा।

कृषक परिवार

सभी ग्रामीण परिवार-यहां तक कि प्राथमिक रूप से कृषि पर निर्भर परिवार थी-एक ही प्रकार के नहीं हैं। कृषि पर निर्भर परिवार को कई अलग-अलग आर्थिक समूहों में बांटा जा सकता है। हमारी अर्थव्यवस्था में कृषक परिवारों के इस प्रकार के वर्गीकरण की जानकारी से हमें पता चल सकता है कि ग्रामीण क्षेत्र में कौन-कौन सी आर्थिक और सामाजिक शक्तियां कार्यरत हैं। हम जानते हैं कि अलग-अलग आर्थिक समूहों के अलग-अलग आर्थिक हित हो सकते हैं वे ऐसे उद्देश्यों से प्रेरित होते हैं जो उन्हें अलग-अलग और कई बार विपरीत दिशाओं में खींचते रहते हैं। अतः हम भारतीय कृषि की मुख्य समस्याओं को तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि हम यह न जान लें कि आर्थिक हितों की दृष्टि से हमारे ग्रामीण परिवारों का किस प्रकार वर्गीकरण किया गया है।

यदि हम कृषक परिवारों को उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार अलग-अलग वर्गों में बांटना चाहते हैं तो एक परिवार के पास भूमि की मात्रा इस वर्गीकरण का एक सुविधाजनक आधार हो सकता है। स्पष्टतः यह एक मात्र आधार तो नहीं हो सकता क्योंकि किसान-परिवारों के पास बैल, ट्रैक्टर, खेती के औज़ार, मौद्रिक बचतें व इसी प्रकार की अन्य परिसम्पत्तियां भी होती हैं जो उनकी आर्थिक शक्ति को प्रकट करती हैं। इन परिसम्पत्तियों से एक परिवार को लगभग उसी प्रकार से लाभ मिलता है जिस प्रकार से उसे भूमि से मिलता है। किन्तु कुल मिलाकर भू-जोत इन अन्य परिसम्पत्तियों का भी एक अच्छा सूचक है। चाहे हम किसी भी दृष्टि से देखें, एक बहुत बड़ी भूमि का मालिक किसान और एक भूमिहीन खेतिहर-मज़दूर दोनों का सम्बन्ध पूर्णतया अलग-अलग आर्थिक वर्गों से होगा। यहां हमें यह भी याद रखना चाहिए कि भूमि का एक भाग कितना मूल्यवान है। यह उसके आधार पर ही निर्भर नहीं करता बल्कि इस बात पर भी निर्भर करता है कि खेती की दृष्टि से वह कितना अच्छा है। स्पष्ट रूप से, विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों के बीच भी इससे अन्तर पाया जाता है और यह अन्तर प्रायः बहुत अधिक होता है। इसी तरह, इसमें तब भी अन्तर आ जाता है जब आधारिक संरचना एवं अन्य उपलब्ध सेवाओं में अन्तर होता है। उदाहरण के लिए, सामान्य परिस्थितियों में भूमि का एक टुकड़ा आजीविका कमाने की दृष्टि से काफी छोटा हो सकता है। किन्तु यही टुकड़ा उत्तम सिंचाई सुविधाएं, अधिक उपज देने वाले बीजों की किस्मों, खेती की नई तकनीकों के प्रशिक्षण तथा तीव्र व सुलभ यातायात सुविधाओं के मिलने पर काफी अधिक मूल्यवान परिसम्पत्ति बन सकता है।

इन सब अन्तरों का ध्यान रखते हुए भी हम कृषक-परिवारों को उनकी भू-जोत के आकार के आधार पर बांट सकते हैं। सबसे बड़ा और सबसे गरीब समूह, निस्सन्देह रूप से ही, भूमिहीन परिवारों का है। ये हमारे ग्रामीण परिवारों के 30 प्रतिशत से भी ज्यादा है। भूमिहीन श्रमिक दूसरे लोगों की भूमि पर खेती करते हैं। इनमें जो कुछ अधिक भाग्यशाली हैं उनके पास अपनी बैलों की जोड़ी या हल होता है और ये

खेत पर ''साझीदार'' के रूप में काम करते हैं। इसका अर्थ है कि ये अपने उपकरणों में किसी दूसरे की भूमि पर खेती करते हैं और बदले में अपने द्वारा उत्पन्न फसल में से एक निश्चित हिस्सा प्राप्त करते हैं। जिनके पास फसल में साझे के लिए आवश्यक न्यूनतन उपकरण भी नहीं होते वे साधारण मज़दूर के रूप में ही काम करते हैं भूमिहीन मज़दूर सामान्यता मज़दूरी पर काम करने वाले दिहाड़ी मज़दूर होते हैं जो अच्छी मज़दूरी की तलाश में कहीं भी जाने को कानूनन स्वतन्त्र होते हैं पर व्यवहार अधिकतर यह पाया जाता है कि उनमें से अधिकांश मज़दूर स्थायी रूप से किसी न किसी एक भूस्वामी से जुड़े होते हैं। कई बार तो वे उस भूस्वामी के परिवार के ''बंधुआ'' ही होते हैं और वे केवल उस भूस्वामी को ही अपनी सेवाओं की गारन्टी नहीं देते बल्कि उसकी आगे आने वाली सन्तानों की भी गारंटी देते हैं। हमारे देश में बंधुआ श्रम की इस प्रथा को अब कानून के द्वारा समाप्त कर दिया गया है। किन्तु अभी भी उन आर्थिक और सामाजिक शक्तियों पर नियन्त्रण पाना शेष है जिनके कारण इस प्रकार की प्रथा को अर्थव्यवस्था में स्वीकार किया गया था।

कृषि परिवारों की दूसरी श्रेणी में वे कृषक शामिल हैं जिनके पास भूमि के इतने छोटे टुकड़े होते हैं कि वे केवल उस भूमि की आय पर ही अपना निर्वाह नहीं कर पाते। ये खेतिहर मज़दूरों की तुलना में आर्थिक दृष्टि से थोड़े ही उन्नत होते हैं। इन्हें भी अपनी स्वयं की भूमि की कमाई की कमी को पूरा करने के लिए दूसरे लोगों की भूमि पर खेतीहर मज़दूरों के रूप में काम करना पड़ता है।

दूसरे लोगों की भूमि पर काम करने से क्या तात्पर्य है ? इसके अर्थ के बारे में श्रम को दूर करने के लिए हमें कृषि कार्यों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता को समझ लेना चाहिए और वह यह कि भूमि पर काम की रफ्तार हमेशा एक जैसी नहीं रहती। कभी-कभी तो भूमि पर बहुत अधिक काम होता है और कभी-कभी मुश्किल से ही कोई काम होता है। उदाहरण के लिए, सबसे अधिक व्यस्त समय वह होता है जब फसल की कटाई होती है। शायद उस समय एक बहुत छोटे से खेत के मालिक के लिए भी केवल अपने और अपने परिवार के श्रम से ही सब काम समय पर पूरा कर लेना सम्भव नहीं हो पाता। उसे यदि वह गरीब है तब भी, या तो किसी अन्य दिन दूसरे के यहां काम करने का वायदा करके या फिर मज़दूरी देकर बाहरी श्रम को काम पर लगाना पड़ता है। अत: किसी किसान द्वारा किराए के श्रमिक लगा लेने मात्र से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि वह आर्थिक दृष्टि से अच्छी स्थिति में है। इस प्रकार एक गरीब किसान को अपने काम के लिए श्रम भाड़े पर भी लेना पड़ सकता है और स्वयं अपने परिवार के श्रम को किसी अन्य किसान के यहां भाड़े पर भेजना भी पड़ सकता है। किन्तु यदि वह गरीब है तो प्राय: दूसरों का श्रम खरीदने की बजाय स्वयं श्रमिक रूप से ही काम करता हुआ अधिक दिखाई देगा। दूसरे शब्दों में, वह कुल मिलाकर एक शुद्ध भाड़ा श्रमिक ही अधिक होगा।

सम्पूर्ण देश के लिए जोत के किसी एक ऐसे न्यूनतम आकार को निश्चित करना बहुत कठिन काम है जिसे आर्थिक दृष्टि से एक उचित इकाई कहा जा सके। किन्तु साधारणतया 2.5 एकड़ (अथवा लगभग एक हैक्टेयर) तक की भूमि वाला किसान एक ''शुद्ध-भाड़ा श्रमिक'' ही होता है। वास्तव में तब वह एक ''सीमान्त किसान'' – व्यावहारिक रूप से एक खेतिहर मज़दूर ही होता है। जिनके पास 2.5 एकड़ की इस न्यूनतम सीमा से भी कम भूमि है ऐसे सीमान्त किसान परिवार हमारे देश के कुल ग्रामीण परिवारों का 33 प्रतिशत अथवा लगभग एक तिहाई भाग है।

कृषक परिवारों की तीसरी श्रेणी उन लोगों की है जो यद्यपि हैं तो छोटे किसान ही किन्तु किसी तरह अपनी स्वयं की भूमि पर गुजारा चलाने में समर्थ हैं। यद्यपि बहुत बड़े परिवारों (जैसे कि जिनके पास 25

एकड़ भूमि है) की सम्पन्नता आज काफी स्पष्ट है तो भी छोटे किसानों एवं अमीर किसानों के बीच कोई ठीक-ठाक विभाजन रेखा खींचना बहुत कठिन काम है। मोटे तौर पर, हम इतना कह सकते हैं कि एक छोटा किसान वह होता है जो आत्मनिर्भर तो होता है किन्तु जिसके पास पर्याप्त बचतों के लिए पर्याप्त साधन नहीं होते। वह सर्वोत्तम मशीनरी और उपकरण अथवा बड़ी संख्या में अच्छी नसल के पशु नहीं खरीद पाता। चूंकि उसके पास अच्छी व पर्याप्त भूमि मशीनरी अथवा काम में टिके रहने की पर्याप्त शक्ति नहीं होती, अत: यह प्राय: खेती के नए तरीकों का इस्तेमाल करने वाले और नई-नई दिशाओं में प्रयोग करते रहने वाले के रूप में भी नहीं दिखाई देता। समूचे देश में पाए जाने वाले कुछ अन्तरों को यदि छोड़ दिया जाए तो इस श्रेणी के लोगों के पास सामान्यता 2.5 एकड़ से 5 एकड़ के बीच भूमि पाई जाती है। भूमि की इस सीमा से सम्बन्धित कृषक-परिवारों की संख्या हमारे कुल ग्रामीण परिवारों की संख्या का लगभग 30 प्रतिशत है।

चौथी श्रेणी, वास्तव में अमीर और अच्छे खाते-पीते किसानों की श्रेणी है। इस श्रेणी में कृषक परिवारों के पास भूमि की मात्रा में काफी अन्तर पाया जाता है और जैसे एक अच्छे खाते-पीते परिवार के पास 5 एकड़ भूमि से लेकर एक सम्पन्न परिवार के पास 25 एकड़ से अधिक तक की भूमि पाई जाती है। ये कुल कृषक परिवारों का केवल 10 प्रतिशत है किन्तु इनके पास आधे से अधिक कृषि-मशीनरी तथा लगभग आधी सिंचाई सुविधाएं हैं। हमारी अर्थव्यवस्था में इन ग्रामीण अमीरों की तुलना शहरी-अमीरों से केवल उनके रहन-सहन के स्तर के आधार पर ही नहीं बल्कि उत्पादन के आधुनिक तरीकों के प्रयोग की दृष्टि से भी अच्छी प्रकार की जा सकती है।

हमारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था के एक बहुत ही ऊंचे सिरे पर अमीर किसान हैं। कृषक सुधारों की अधिकांश प्रेरणा-शक्ति इसी श्रेणी के किसानों में पाई जाती है। किन्तु अधिकांश लाभ भी इन्हीं को प्राप्त होते हैं। दूसरे सिरे पर, कृषक परिवारों की पहली दो श्रेणियों के गरीब ग्रामीण परिवार को 1961-62 की कीमतों पर प्रति व्यक्ति 2400 रु०की वार्षिक आय ही प्राप्त होती है। जब हम इस तथ्य का स्मरण करते हैं कि यह हमारी अर्थव्यवस्था के लिए सामान्य गुज़र-बसर चलाने वाली उस गरीबी रेखा की परिभाषा को दर्शाता है जो प्रति व्यक्ति प्रतिदिन 2400 कैलोरीज़ खाद्य उपभोगों को सम्भव बनाता है तब हम इस बात को महसूस कर सकते हैं कि हमारी ग्रामीण जनसंख्या के आधे से अधिक लोग किस दयनीय दशा में जीते हैं।

भूमि सुधार

जो कुछ हमने ऊपर कहा है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भूमि सुधारों की – जिससे हमारा तात्पर्य है भू-धारण प्रणाली और इसी प्रकार के अन्य उपायों में सुधार -- भारत के आर्थिक विकास की रणनीति में एक केन्द्रीय भूमिका है। एक ऐसी प्रणाली जो अनुत्पादक होने के अलावा भू-जोतों के उस वर्गीकरण को जिसका हमने पीछे वर्णन किया है स्थायित्व प्रदान करती है, वह निश्चित ही अन्यायपूर्ण है। अत: ऐसी प्रणाली का आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से समर्थन नहीं किया जा सकता।

इससे भी अधिक, हम जिस बात को महसूस नहीं कर पाते वह यह है कि (अ) भूमिहीन श्रमिकों, (ब) सीमान्त किसानों, (स) छोटे किसानों और (द) सम्पन्न बड़े भूस्वामियों के चार समूहों में ग्रामीण परिवारों का विभाजन करने वाला ढांचा भी निम्नलिखित अर्थों में एक स्थायी ढांचा नहीं है : कृषि उत्पादकता का निम्न स्तर, गरीबी और बेरोज़गारी का दबाव तथा बढ़ती हुई जनसंख्या का भार-ये सब मिलकर छोटे किसानों और गरीब सीमान्त किसानों के परिवारों को धीरे-धीरे कृषि मज़दूर बनने के लिए

मजबूर करते रहते हैं। कृषि श्रमिकों की श्रेणियों के इस सतत विस्तार ने ही ग्रामीण भारत में गरीबी की समस्या को एक गम्भीर रूप प्रदान कर दिया है। भूमि सुधारों को यदि बुद्धिमानी से लागू किया जाए तो वे कृषि श्रमिकों के एक बहुत बड़े भाग को, जो सही मायने से भूमि को जोतने वाले हैं, भूमि के स्वामी भी बना सकते हैं। यदि इन्हें लागू नहीं किया गया तो इसका विकल्प आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से भारतीय समाज को नष्ट करने वाला होगा।

मध्यस्थों की समाप्ति

भू-धारण की वर्तमान प्रणाली में ज़मीन जोतने वालों के पास सामान्यतया स्वामित्व का अधिकार नहीं होता, अतः वे कृषि उत्पादन में गुणात्मक सुधार लाने की दृष्टि से निर्णय करने में असमर्थ रहते हैं। कानून की दृष्टि से भूमि का स्वामी अक्सर एक मध्यस्थ होता है जो भूमि और किसान के बीच खड़ा होता है। वास्तव में, अधिकांश क्षेत्रों में भू-धारण की प्रणाली इतनी अधिक जटिल है कि कृषक और भूमि के बीच मध्यस्थतों के कई-कई स्तर तक भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, भूमि का स्वामी कोई एक बड़ा जमींदार हो सकता है जो छोटे काश्तकारों को काश्त के अधिकार दे और ये काश्तकार फिर आगे उप-काश्तकार बना सकते हैं जो ज़मीन जोतने के लिए भाड़े पर श्रमिक लगाएं। इसका अर्थ है कि ज़मीन जोतने वाले को तुलनात्मक रूप से बहुत ही थोड़ा हिस्सा मिलेगा क्योंकि प्रत्येक स्तर का मध्यस्थ किसी भी प्रकार के आर्थिक कार्य के बिना ही कृषि के उत्पादन में से अपना-अपना हिस्सा लेगा। मध्यस्थों की रुचि सामान्यतया कृषि में किसी भी प्रकार के परिवर्तनों को लागू करने की नहीं होगी क्योंकि हो सकता है कि ये परिवर्तन स्वयं मध्यस्थों की स्थिति को खतरे में डाल दें। अतः भूमि पर खेती करने वाले काश्तकार को स्वामित्व के अधिकार दिलाने वाला कानून भूमि सुधार का एक बहुत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद भू-स्वामित्व की एक प्रणाली जिसे ज़मींदारी प्रथा कहा जाता था भारत में समाप्त कर दी गई। इसके परिणामस्वरूप लगभग 20 मिलियन काश्तकारों को, जिसके पास कृषि भूमि का 40 प्रतिशत भाग था, अधिकार प्रदान किए गए। यह उन्हें पूर्ण स्वामित्व के अधिकार देने के समान तो नहीं था किन्तु जमींदारों और उन जैसे ही मध्यस्थों को हटाना सही अर्थों में भारतीय कृषि की स्थिति में एक सुधारवादी कदम अवश्य था।

लगभग सभी राज्यों में निम्नलिखित दृष्टियों से काश्तकारी सुधार किए गए : (अ) काश्तकारों को काश्त की सुरक्षा प्रदान करने के लिए, (ब) लगान के नियमन के लिए, और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण (स) जो जिस ज़मीन पर काश्त करते थे उन काश्तकारों को उस ज़मीन के स्वामित्व के अधिकार देने के लिए।

किन्तु भू-धारण की प्रणाली में सुधार लाने के उद्देश्य से बनाए गए काश्तकारी कानूनों के बारे में निराशाजनक अनुभवों में से एक अनुव यह रहा है कि इन्होंने गरीब काश्तकारों की एक बड़ी संख्या को बजाय बड़े किसानों की एक छोटी-सी संख्या को ही अधिक सहायता पहुंचाई है।

जोतों की चकबन्दी

भारतीय कृषि की निम्न उत्पादकता का एक कारण यह भी रहा है कि एक किसान के पास जो भूमि का टुकड़ा है वह ट्रैक्टर जैसी आधुनिक कृषि मशीनरी के प्रयोग की दृष्टि से काफी छोटा पड़ता है। यहां तक कि एक बड़े भूस्वामी के पास भी एक काफी बड़ी संख्या में भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े होते हैं जिनका निरीक्षण कर पाना उनके लिए कठिन होता है। भारतीय कृषि में इस स्थिति को "भूमि का अपखण्डन" कहा जाता है। **अपखण्डन की** समस्या मुख्य रूप से सम्पत्ति के उत्तराधिकार की प्रणाली में

से उत्पन्न होती है, जिसके सुधार किसी एक व्यक्ति के भूमि के बड़े टुकड़े को उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके सभी बच्चों में छोटे-छोटे टुकड़ों में बांट दिया जाता है। अपखण्डन के और भी कई कारण हैं जैसे, यह हो सकता है कि भूमि का एक स्वामी अपनी पुत्री के विवाह के खर्चों को पूरा करने के लिए भूमि का एक छोटा टुकड़ा बेच दे।

भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था में जोतों के अपखण्डन की समस्या एक गम्भीर समस्या बनी हुई है और अभी तक छोटे और बिखरे हुए भूमि के टुकड़ों को उपयुक्त बड़ी जोतों में बदलने की दृष्टि से पर्याप्त उपाय नहीं हो पाए हैं। शायद, सहकारी खेती, जिसके अन्तर्गत विभिन्न परिवारों के स्वामित्व की भूमि पर उनके द्वारा संयुक्तरूप से खेती की जाती है। अपखण्डन की इस समस्या का सर्वोत्तम हल हो सकता है। इस प्रकार, भूमि के मालिक किसान एक सहकारी समिति बना सकते हैं जो बिखरी हुई जोतों के स्वामित्व को तो नहीं किन्तु समस्त कृषि कार्यों को मिलकर कर सकती है।

भू-जोत की अधिकतम सीमा

एक किसान को वह जितनी भूमि जोत सकता है उससे अधिक भूमि रखने और इस प्रकार एक व्यर्थ का ही ''मध्यस्थ'' बनने से रोकने का एक दूसरा उपाय है भू-जोत की अधिकतम सीमा (हदबन्दी) लागू करना। भारत के कई राज्यों ने इस उपाय का इस प्रकार से प्रयोग किया है कि यह इस प्रकार की मध्यस्थ रोक पाने में समर्थ हो सकेगा जिसका अभी हमने उल्लेख किया है। यह भी आशा की गई है कि हदबन्दी से अधिक की फालतू भूमि को उस भूमि को जोतने वाले कृषि-श्रमिकों में वितरित कर दिया जाएगा।

विभिन्न राज्यों में भूमि की हदबन्दी के कानूनों को लागू करने के परिणामस्वरूप कुल मिलाकर लगभग 3 मिलियन हैक्टेयर भूमि को ''फालतू'' घोषित किया गया है। इसमें एक भाग को सरकार ने लिया है और अतिरिक्त भूमि का वितरण कर दिया गया है। भूमि की जितनी मात्रा को फालतू घोषित किया गया है, कुछ लोगों के अनुसार यह आंकड़ा आश्चर्यजनक रूप से ही काफी छोटा है। भारत के किसान परिवारों के लिए लागू की गई भूमि की हदबन्दी के ऊपर भारत के कुल कृषि योग क्षेत्र के जितने छोटे से भाग को अतिरिक्त (या फालतू) भूमि माना गया है उसके लिए मुख्य रूप से भूमि की हदबन्दी कानूनों की कमियां ही जिम्मेवार हैं।

कृषि श्रमिक

1981 की जनगणना से पता चलता है कि भारत में लगभग 197 मिलियन सक्रिय ग्रामीण मजदूर हैं। इस 197 मिलियन के अलावा, ग्रामीण श्रम शक्ति में लगभग 13 मिलियन लोग बेरोज़गार हैं, इस प्रकार कुल संख्या 210 मिलियन हो जाती है। इनमें से लगभग 162 मिलियन कृषि श्रमिक हैं। फिर इनमें से लगभग 100 मिलियन लोगों को स्व-नियोजित बताया गया है और 62 मिलियन को मज़दूरी पर काम करने वाले श्रमिक बताया गया है। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि ऐसे कई लोगों को जिन्हें कृषि क्षेत्र में प्रमुख श्रमिकों के रूप में नहीं बताया गाय है वे भी कुछ खेती पर ही निर्भर करते हैं।

जनसंख्या में वृद्धि तथा कई अन्य आर्थिक कारणों के परिणामस्वरूप भारत में कृषि श्रमिकों की संख्या बढ़ती जा रही है। उदाहरण के लिए, कृषि श्रमिक परिवारों की संख्या 1963-64 में 14.12 मिलियन से बढ़कर 1977-78 में 28.61 मिलियन हो गई जो लगभग 100 प्रतिशत वृद्धि को बताता है।

कृषि की स्थिति में सामान्य सुधार के साथ-साथ कृषि मज़दूरी में भी वृद्धि दिखाई देती है। अनुमान है कि 1971-73 से 1981-83 की अवधि के दौरान भारत में कृषि मज़दूरी वास्तविक रूप में (अर्थात् कीमत वृद्धि का हिसाब लगाने के बाद) 2.05 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ी है। यह बताता है कि जब

तक उनकी मजदूरी का प्रश्न है कृषि श्रमिकों की स्थिति में सुधार हुआ है, किन्तु फिर भी इनकी संख्या बढ़ी है और उसके साथ शायद कुछ रोज़गार स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पाया है।

कृषि निविष्टियां (इन्पुट्स)

भूमि, निश्चित ही, कृषि उत्पादन का एक प्रमुख साधन है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि हमारी अर्थव्यवस्था में भूमि का स्वामित्व एवं उपयोग हमारी भू-धारण प्रणाली पर निर्भर करता है। ग्रामीण परिवारों के विभिन्न वर्गों के बीच पाए जाने वाले भारी अन्तरों को भी, जिनको हम पहले ही देख चुके हैं हमारी भू-धारण प्रणाली में ही खोजा जा सकता है। सम्भवत: हमारे कृषि-क्षेत्र की लगभग सभी समस्याएं मुख्य रूप से इन कालबाह्य (पुरानी) भू-धारण प्रणालियों का ही परिणाम है।

यहां तक कि नई कृषि तकनोलॉजी को लागू करने के लिए भी कुछ मुख्य सुधारों को अपनाना ज़रूरी है। वास्तव में, भूमि सुधारों से सम्बन्धित संस्थागत परिवर्तन और पैकेज दृष्टिकोण से सम्बन्धित तकनीकी परिवर्तन निश्चित ही एक दूसरे के पूरक के रूप में देखे जा सकते हैं - ये दो ऐसे आधार हैं जिन पर भारतीय कृषि का पुनरोदय समान रूप से निर्भर करेगा।

चूंकि हम भूमि सुधारों और नई तकनोलॉजी के बारे में पिछले खण्डों में पहले ही वर्णन कर चुके हैं, अत: हम यहां कृषि के विकास में भूमि के अलावा कुछ अन्य मुख्य इन्पुट्स की भूमिका के बारे में ही चर्चा करेंगे।

हम एक ऐसे किसान की कल्पना करें जिसके पास अपना खेत है। जब हम उसकी सम्भव निविष्टियों (इन्पुट्स) का विचार करेंगे तो हमें तुरन्त ध्यान में आएगा कि ये कई प्रकार की होती हैं :

1. तकनीकी जानकारी

पहली निविष्ट वह है जिसे तकनीकी जानकारी कहा जाता है। स्पष्टतया, यहां तक कि यदि परम्परागत ढंग से भी कृषि कार्य करने हों, तब भी काफी बड़ी मात्रा में ठीक-ठीक जानकारी का होना आवश्यक है। खेती के आधुनिक तरीकों का प्रयोग करने के लिए किसान को बीज के प्रकारों, उर्वरकों, फसल-प्रबन्ध, जल-प्रबन्ध, भण्डारण, फसल-बीमा, विपणन आदि के बारे में भी अधिक सूक्ष्म जानकारी की आवश्यकता रहती है।

2. स्वयं का श्रम

दूसरी निविष्टि है किसान का निजी एवं उसके परिवार के सदस्यों का श्रम। बाज़ार में इस निविष्टि की कीमत नहीं आंकी जाती है। इससे हमारा तात्पर्य यह है कि किसान अथवा उसके परिवार के सदस्यों के श्रम को शायद ही कहीं दूसरी जगह नियमित आय कमाने का अवसर प्राप्त हो पाता है। इस प्रकार इस बात की चिन्ता किए बिना ही कि उसकी वास्तव में आवश्यकता है या नहीं एक किसान को अपने परिवार का श्रम तो हमेशा उपलब्ध रहता ही है। यह बात ही कृषि में गुप्त बेरोज़गारी अथवा अल्प बेरोज़गारी को जन्म देती है।

3. भाड़े का श्रम

तीसरी निविष्टि खेत का भाड़े का श्रम है। यहां भी, भारतीय अर्थव्यवस्था के अधिकांश क्षेत्रों में भाड़े के कृषि-श्रम के लिए कोई एक नियमित संगठित बाज़ार नहीं पाया जाता। वास्तव में, कुछ क्षेत्रों में भाड़े के श्रम के कुछ भाग को केवल एक मोटे और अपरिभाषित अर्थ में ही ''भाड़े का'' कहा जा सकता है। उनके श्रम के लिए जो मज़दूरी दी जाती है वह भी मुद्रा के रूप में न होकर न्यूनतम स्तर पर निर्वाह के लिए आवश्यक भोजन व कपड़े के रूप में हो सकती है। इस प्रकार के श्रमिकों को दूसरे नियोजकों की

और देख सकने तक का अवसर प्राप्त नहीं हो पाता। हमने अब कानून के द्वारा इस प्रकार के ''बंधुआ'' श्रम को समाप्त कर दिया है। किन्तु व्यवहार में तो इसे श्रमिकों की अधिक अच्छी आर्थिक स्थिति ही समाप्त कर सकती है।

4. पशुधन

किसान के लिए एक अन्य महत्त्वपूर्ण निविष्टि है पशुधन जैसे बैल और भैंस। कृषि में यह सदैव ही बहुत महत्त्वपूर्ण निविष्टि रही है। वास्तव में विभिन्न कृषि-परिवारों के वर्गीकरण का एक आधार-उनके पास पशुधन की संख्या और किस्म भी है। यदि हम परिवारों के उस वर्ग को सबसे अधिक अमीर मानें जिनके पास 10 एकड़ या इससे अधिक कृषि भूमि है, तो कुछ सर्वेक्षण आंकड़े यह बताते हैं कि ऐसे परिवारों के पास पशुओं की कुल संख्या का 36 प्रतित और भैंसों का 38 प्रतिशत है। पशुओं की किस्म की दृष्टि से तो परिवारों की स्थिति और भी अधिक अच्छी है। मूल्य की दृष्टि से इनका भारत की कुल भैंसों एवं पशु सम्पत्ति के 44 प्रतिशत से भी अधिक पर स्वामित्व है। दूसरे शब्दों में, इनके पास पशु केवल अधिक ही नहीं बल्कि अधिक बढ़िया और अधिक कीमती भी हैं।

5. कृषि उपकरण

कृषि में पांचवें प्रकार की निविष्टि कृषि-उपकरण, अन्य उपकरण एवं मशीनरी हैं। इस श्रेणी में हम एक तरफ लकड़ी एवं लोहे के हल जैसे परम्परागत उपकरण तथा बैलगाड़ी जैसे यातायात उपकरण को शामिल कर सकते हैं। दूसरी ओर, हमारे पास आधुनिक उपकरण एवं कृषि-मशीनरी हैं, जैस पम्प, ट्रैक्टर्ज, ट्रक और मोटर चालित तीन पहिये वाले वाहन आदि अच्छे परिवहन उपकरण। यहां भी, अधिक अमीर किसानों के पास निविष्टि केवल अधिक नहीं है बल्कि उनके पास इस श्रेणी में अधिक अच्छे, अधिक मूल्यवान एवं अधिक आधुनिक प्रकार की निविष्टियां हैं। उदाहरण के लिए, एक सर्वेक्षण से पता चलता है कि धनी कृषि-परिवारों के चोटी के 10 प्रतिशत सबसे ज्यादा अमीर किसानों के वर्ग के पास बिजली से चलने वाले पम्पों और ट्रैक्टरों का 75 प्रतिशत से भी अधिक था। उनके पास कृषि-मशीनरी का 60 प्रतिशत से भी अधिक और कुल ग्रामीण परिवहन उपकरणों का 50 प्रतिशत से भी अधिक था।

6. सिंचाई

छठे प्रकार की निर्विष्टि सिंचाई है, जिसमें परम्परागत एवं आधुनिक दोनों प्रकार के साधन शामिल हैं। इस निर्विष्टि का प्रयोग लगभग सभी प्रकार की खेती और सभी प्रकार की फसलों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु सिंचाई के महत्त्व में एक फसल से दूसरी फसल और एक तकनीक से दूसरी तकनीक के बीच भी अन्तर आ जाता है। कुल मिलाकर, परम्परागत तरीकों की अपेक्षा खेती के आधुनिक तरीके सिंचाई पर अधिक निर्भर करते हैं। आधुनिक तरीकों को अपनाने के लिए अक्सर पानी की पूर्ति के विस्तृत एवं उपयुक्त स्रोतों की आवश्यकता रहती है।

7. बीज

बीज एक अन्य निविष्टि है। स्पष्टतया, कृषि में उत्पादन, बीजों की किस्म पर निर्भर करता है। हमारी कृषि में बीजों के प्रयोग के मामले में किसान को हमेशा कुछ चुनाव करना होता है। उसे सबसे पहले यह चुनाव करना होता है कि उसे किस प्रकार की फसल का उत्पादन करना है। अधिकतम भूमियां वैकल्पिक फसलों का उत्पादन कर सकती हैं, उदाहरण के लिए, जूट और धान इनमें से उसे एक का चुनाव करना होता है। दूसरे, प्रत्येक फसल के लिए किसान को बीज के प्रकार का भी चुनाव करना होता है। कुछ बीज अधिक उपज देने वाले होते हैं जैसे आई.आर. 8 चावल। दूसरी ऊंची किस्म के होते हैं। जैसे

बासमती चावल। इस निविष्टि के बारे में चुनाव केवल बाज़ार कीमतों पर ही निर्भर नहीं करता बल्कि अन्य निविष्टियों की उपलब्धि पर भी निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, जैसे कि हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं, इन अधिक उपज देने वाली आधुनिक किस्मों में से कुछ पूर्णतया खेत में समय पर एवं पर्याप्त मात्रा में पानी देने पर निर्भर करती हैं। एक किसान के लिए इनका प्रयोग तब तक लाभदायक नहीं होगा जब तक उसे उसकी आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा में पानी की पूर्ति का विश्वास न हो।

8. उर्वरक एवं कीटनाशी

आधुनिक दृष्टि से उर्वरक एवं कीटनाशी दो महत्त्वपूर्ण निविष्टियां हैं। रासायनिक उर्वरक का प्रयोग तुलनात्मक रूप से नया है। यद्यपि भूमि की उपजाऊ शक्ति में सुधार के लिए खादों का प्रयोग तो शायद उतना ही पुराना है जितनी पुरानी स्वयं खेती की प्रणाली है। आधुनिक रासायनिक उर्वरक एक नए प्रकार की निविष्टि है, मुख्यत: इसलिए कि जब इनका सिंचाई के पानी जैसे अन्य निविष्टियों की उचित मात्राओं के साथ प्रयोग किया जाता है तो ये भूमि के उपजाऊपन को काफी बड़े पैमाने पर बदल देते हैं। फसलों की सुरक्षा के लिए बड़े पैमाने पर रासायनिक कीटनाशी दवाओं का प्रयोग भी आधुनिक कृषि में एक नया प्रयोग है।

परन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि कृषि में बड़े पैमाने पर रसायनों के प्रयोग के परोक्ष प्रभाव (पार्श्व-प्रभाव) अथवा दूरगामी प्रभाव समाज के लिए प्रदूषण एवं अन्य स्वास्थ्य सम्बन्धी संकटों की भयंकर समस्याएं खड़ी कर सकते हैं।

9. भण्डारण

एक अन्य निविष्टि है भण्डारण सुविधा। कीड़ों एवं मौसम से बचाव कर सकने वाले भण्डारण के तरीकों के अभाव के कारण हर साल भारत में उत्पन्न अनाजों का एक बहुत बड़ा भाग नष्ट हो जाता है।

10. विपणन

कृषि के उत्पादन के लिए अगली निविष्टि किसान की फसल की सामायिक वसूली एवं विपणन की सुविधाओं की समुचित व्यवस्था करना है।

अन्त में, किसान के लिए दो और महत्त्वपूर्ण निविष्टियां हैं, वे कोई एक भौतिक प्रकार की नहीं है। ये है : फसल-बीमा और किसान के लिए साख सुविधाएं।

11. फसल बीमा

भारत में फसल बीमा की प्रणाली को अभी ठीक से लागू किया जाना है, किन्तु कई देशों में इसे लागू करके कृषि उत्पादन की अनिश्चितता पर काफी कुछ नियन्त्रण पा लिया गया है। इस प्रणाली में फसल बीमा के द्वारा फसलों की कीमतों में अप्रत्याति रूप से कमी होने के परिणामस्वरूप होने वाली हानि की भरपाई भी की जाती है।

12. वित्त

साख की आवश्यकता इसलिए पड़ती है क्योंकि कृषि में भी उत्पादक को अन्य उत्पादक क्रियाओं की तरह अपने उत्पादन के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उत्पादन हो जाने के बाद भी उसे तब तक इंतजार करना पड़ता है जब तक कि वह बिक नहीं जाता और इसलिए इस बीच इसके उचित भण्डारण की भी व्यवस्था करनी पड़ती है। इंतज़ार की इस अवधि के दौरान उसे अपने सब खर्चों का भी प्रबन्ध करना होता है और यही कारण है कि उसे साख की आवश्यकता पड़ती है।

हमारी अर्थव्यवस्था में ग्रामीण साख की समस्या दो कारणों से जटिल बनी हुई है। सर्वप्रथम, अमीर किसानों को छोड़कर, हमारे किसान आर्थिक दृष्टि से इतने कमज़ोर हैं कि संगठित बैंकिंग प्रणाली द्वारा सामान्य व्यावसायिक स्तर पर इन्हें "साख के योग्य" नहीं माना जाता। द्वितीय, गरीब किसानों की इस कमज़ोर दशा का ग्रामीण अमीरों के एक वर्ग द्वारा घरेलू साख प्रणाली के माध्यम से शोषण किया जाता है। बैंकिंग प्रणाली के सुलभ न हो पाने के कारण हमारे किसानों के एक बहुत बड़े भाग को भू-स्वामियों एवं व्यावसायिक साहूकारों से अत्यन्त अनुचित शर्तों पर ऋण लेना पड़ता है। हमारे व्यावसायिक बैंकों का परम्परागत ढांचा तो मूर्त जमानत के बदले तथा उन लोगों को ऋण देने के लिए बना हुआ है जिन्हें उनकी आय और सम्पत्ति के आधार पर "साख के योग्य" माना जाता है। इसलिए, पिछले समय के दौरान बैंकिंग कभी भी ग्रामीण क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर पाई क्योंकि वहां प्रत्याशित ऋण प्राप्तकर्त्ता जमानत और साख योग्यता की इन दो कसौटियों में से किसी को भी पूरा नहीं कर सकते थे। इस प्रकार, पचास के दशक के दौरान तक भी हम पाते हैं कि किसानों को अपने कुल ऋण का 70 प्रतिशत गांवों के परम्परागत साहूकारों से ही मिलता था-फिर चाहे वे उसके स्वयं के भूस्वामी हों अथवा व्यावसायिक साहूकार। सरकारी स्त्रोतों एवं सहकारी बैंकों का हिस्सा सात प्रतिशत से भी कम था, व्यावसायिक बैंकों का हिस्सा तो कुल ग्रामीण साख का एक प्रतिशत भी नहीं था।

पचास के दशक की तुलना में आज का चित्र कुल मिलाकर काफी अच्छा है। देश के कई भागों में किसानों की पंजीकृत समितियों पर आधारित सहकारी आन्दोलन ने गति पकड़ी है। अपने सदस्यों को साख सुविधाएं प्रदान करने वाले सहकारी समितियों की संख्या कई गुना बढ़ गई और कई क्षेत्रों में इन्होंने साहूकारों का स्थान ले लिया है। स्थिति में इस सीमा तक सुधार हुआ है कि अब सहकारी एजेंसियों, सहकारी भूमि विकास बैंकों एवं व्यावसायिक बैंकों से मिलने वाली कुल संस्थागत साख हिस्सा किसानों को दी जाने वाली कुल अल्पकालीन और मध्यकालीन साख में लगभग एक तिहाई हो गया है।

किन्तु यदि हम इस चित्र को और अधिक ध्यान से देखें तो पाएंगे कि अभी भी यह चित्र काफी निराशाजनक है। प्रथम, संस्थागत, स्त्रोतों से मिलने वाली यह एक तिहाई ग्रामीण साख अभी भी देशी साहूकारी प्रथा के दमनकारी पंजों से किसानों को ही सही माने में मुक्ति दिलाने की दृष्टि से काफी कम है। दूसरे, हमारे ग्रामीण परिवारों के विभिन्न वर्गों के बीच संस्थागत स्त्रोतों से प्राप्त साख का वितरण काफी असन्तुलित है।

भारतीय रिजर्व बैंक के हाल ही के अध्ययनों से पता चलता है कि 1973-74 में निजी क्षेत्र के बैंकों से गरीब काश्तकारों, छोटे किसानों एवं सम्पन्न किसानों को प्राप्त ऋण का वितरण इस प्रकार था : गरीब काश्तकारों को 4 प्रतिशत, छोटे किसानों (10 एकड़ भूमि तक की जोत वालों) को 19 प्रतिशत, और शेष 77 प्रतिशत उन बड़े किसानों को जो तमाम ग्रामीण परिवारों के लगभग 10 प्रतिशत हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों का योगदान कुछ थोड़ा अच्छा था। उन्होंने गरीब काश्तकारों को 5 प्रतिशत, छोटे किसानों को 33 प्रतिशत और बड़े किसानों को कुल ग्रामीण साख का 62 प्रतिशत उधार दिया था।

मुख्य रूप से यही कारण है कि छोटे एवं सीमान्त किसानों की साख की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक नए प्रयोग की आवश्यकता है। 1975 में भारत सरकार द्वारा यह तय किया गया कि क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की एक कड़ी का निर्माण किया जाए। इनको विशेष रूप से पिछड़े इलाकों एवं दूसरे उन इलाकों में स्थापित किया जाए जहां सहकारी एवं व्यावसायिक बैंक पर्याप्त रूप से नहीं पहुंच पाए हैं। इन बैंकों का झुकाव विशेष रूप से गरीब वर्ग के लोगों की साख की आवश्यकताओं को पूरा करने की दिशा

में हो। पर इसके साथ ही इन्हें व्यावसायिक रूप से भी संगठित किया जाएगा। इनकी मुख्य शक्ति इस बात में होगी कि ये स्थानीय आधार एवं ग्रामीण प्राथमिकता लिए हुए होंगे प्रत्येक बैंक की अधिकृत पूंजी एक करोड़ रु० रखी गई थी जिसमें केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों एवं व्यावसायिक बैंकों को योगदान देना था। शुरू के सालों में ही धीरे-धीरे करके इस प्रकार के क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक एक काफी बड़ी संख्या में स्थापित कर दिए जाने थे।

इन नए प्रयोग की सफलता असफलता मुख्य रूप से दो तत्त्वों पर निर्भर करेगी। पहला और सर्वप्रमुख, यह इस पर निर्भर करेगा कि ये बैंक ग्रामीण समाज-जीवन के वास्तव में कितना नज़दीक आ सकते हैं। यह इस बात का निर्धारण करेगा कि वे सही मान में छोटे किसानों के वास्तविक हितों की किस सीमा तक रक्षा करने में समर्थ हो सकेंगे। कभी-कभी एक अच्छे काम के लिए छोटे किसानों के नाम दिया गया ऋण लौटकर गुप्त रूप से अयोग्य ऋणी के पास पहुंच जाता है। द्वितीय, यह ग्रामीण ऋणग्रस्तता की बुराइयों को कम करने एवं समाप्त करने के अन्य उपायों की सफलता पर निर्भर करेगा। इस दृष्टि से बंधुआ मज़दूरी प्रथा को समाप्त करने, गरीब किसानों के ऋणों को निरस्त करने, और निस्संदेह ही भूमि सुधार के सामान्य उपाय - ये सब उपाय हैं जो हमारी कृषि प्रणाली में सस्ते एवं समय पर साख के प्रवाह को आसान बनाते हैं।

कृषि में नई तकनोलॉजी

भूमि सुधार में संस्थागत परिवर्तनों पर ज़ोर दिया गया है, जैसे भू-धारण प्रणाली में परिवर्तन, भू-जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित करना आदि। इसके साथ-साथ ही 1960 के दशक के मध्य से कृषि में नई तकनोलॉजी को लागू करने के महत्त्व पर भी ज़ोर दिया जाने लगा है। कृषि में नई तकनोलॉजी को अपनाने के परिणामस्वरूप ही हरित-क्रान्ति को जन्म लिया था। हरित-क्रान्ति का मुख्य कारण गेहूं और, कुछ थोड़े पैमाने पर, चावल की अधिक उपज वाली किस्मों को अपनाना था। अधिक उपज वाली किस्में जीव वैज्ञानिक नवप्रवर्तनों का परिणाम हैं और उनके प्रयोग के लिए उनके साथ-साथ ही उर्वरकों एवं नियन्त्रित सिंचाई का भी अधिक प्रयोग करना होता है। इस प्रकार कृषि में नई तकनोलॉजी के लिए तीन महत्त्वपूर्ण इन्पुट्स के एक ''पैकेज'' की आवश्यकता रहती है, ये है : (अ) अधिक उपज वाले बीज, (ब) नए रासायनिक उर्वरकों की वैज्ञानिक रूप से निर्धारित उचित मात्रा जो मिट्टी की ठीक-ठीक स्थितियों पर निर्भर करती है, और (स) पानी का नियन्त्रित प्रयोग। इसके अलावा, इस पैकेज में रासायनिक कीटनाशकों को भी शामिल करना होता है और यह फसल एवं मिट्टी पर निर्भर करता है। इस प्रकार नई कृषि तकनोलॉजी ''पैकेज दृष्टिकोण'' पर ज़ोर देती है। नई तकनोलॉजी में सफलता पाने के लिए पैकेज के सभी तत्त्वों का एक साथ प्रयोग करना आवश्यक होता है।

हरित-क्रान्ति ने भारतीय कृषि में तेज़ी से आधुनिकीकरण की अवधि का प्रतिनिधित्व किया है, यह बात निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट हो जाती है। 1966-67 में चावल उत्पन्न करने वाले क्षेत्र के केवल 2 प्रतिशत भाग में और गेहूं उत्पन्न करने वाले क्षेत्र के केवल 2 प्रतिशत भाग में ही अधिक उपज वाली किस्मों का प्रयोग होता था। 1983-84 तक चावल उत्पन्न करने वाले कुल क्षेत्र का 55 प्रतिशत भाग और गेहूं उत्पन्न करने वाले क्षेत्र का 80 प्रतिशत भाग अधिक उपज वाली किस्मों के अन्तर्गत आ चुका था। 1983-84 में यह 41 मिलियन हैक्टेयर हो गया, इस प्रकार लगभग 52 प्रतिशत की वृद्धि हुई। उर्वरक का उपभोग और भी तेज़ी से बढ़ा, यह 1966-67 में 7 कि०ग्रा० प्रति हैक्टेयर से बढ़कर 1983-84 में 44.5 कि०ग्रा० प्रति हैक्टेयर हो गया।

उपलब्धियां

जहां तक खाद्यान्नों के उत्पादन का सवाल है, अधिक उपज वाली किस्मों और पैकेज दृष्टिकोण पर आधारित नई कृषि तकनोलॉजी ने महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त की है। 1966-67 में भारत का कुल खाद्यान्न उत्पादन लगभग 87 मिलियन टन था। 1980 के दशक के मध्य तक यह लगभग 140 मिलियन टन प्रति वर्ष होने के बावजूद, 1966-70 और 1981-85 की अवधि के दौरान खाद्यान्नों की प्रति व्यक्ति उपलब्धि भी 158.70 कि०ग्रा० से बढ़कर 166.30 कि०ग्रा० हो गई।

खाद्य समस्या

यद्यपि प्रौद्योगिकीय सुधारों के परिणामस्वरूप खाद्यान्न उत्पादन में अच्छी खासी वृद्धि हुई है। यह मुख्य रूप से दो कारणओं से है। प्रथम, जनसंख्या में लगातार वृद्धि होते रहने के कारण खाद्यान्नों की प्रति व्यक्ति उपलब्धता अपर्याप्त बनी रही। द्वितीय, ग्रामीण क्षेत्र की गरीब अभी भी काफी अधिक है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि ग्रामीण क्षेत्र की लगभग आधी जनसंख्या मुश्किल से ही प्रतिदिन 2200 कैलोरीज़ खाने का प्रबन्ध कर पाती है जो कि उनके पोषण की न्यूनतन आवश्यकता है। अतः लोगों को भोजन प्रदान करने की समस्या उन्हें उस कीमत पर भोजन प्रदान करने की भी समस्या बन जाती है जिस कीमत को वे बर्दाश्त कर सकते हैं। सौभाग्य से, भारत ने खाद्यान्नों की वसूली और उचित मूल्य की दुकानों के माध्यम से, यद्यपि मुख्यतः शहरी क्षेत्रों में, इसके वितरण की एक व्यापक प्रणाली का विकास किया है।

समूचे देश में 2 लाख से भी अधिक उचित मूल्य की दुकानें हैं जो 45 करोड़ से भी ज्यादा जनसंख्या तक पहुंच रखती हैं। इन दुकानों के माध्यम से प्रति वर्ष सरकार द्वारा वसूल किया गया 10 मिलियन टन से भी ज्यादा खाद्यान्न बेचा जाता है। खाद्यान्नों के अलावा, इन दुकानों के माध्यम से सरकार चीनी भी बेचती है। उचित (या कम) कीमतों पर खाद्यान्नों एवं चीनी के सार्वजनिक वितरण को राशनिंग की प्रणाली द्वारा चलाया जाता है। मुख्य रूप से खाद्यान्नों की वसूली और राशनिंग के माध्यम से सार्वजनिक वितरण की इस व्यापक एवं सफल प्रणाली के द्वारा ही भारत भयंकर सूखे के वर्षों में भी अकालों से बचा रह सकता है।

कृषि उत्पादकता

हम देख चुके हैं कि भारत में कृषि उत्पादकता कारकों के दो समूहों पर निर्भर करती है : (अ) संस्थागत, इसमें शामिल हैं भूमि सुधार, जैसे ज़मीन जोतने वाले किसान को स्वामित्व एवं पट्टे के अधिकार देना, भूमि की अधिकतम सीमा को लागू करना आदि; और (ब) प्रौद्योगिकीय, इसमें शामिल हैं अधिक उपज वाले बीजों की किस्मों को अपनाना, उचित रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग, कीटनाशी दवाओं का प्रयोग, सिंचाई का प्रबन्ध आदि।

जिन क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर नई तकनोलॉजी को लागू किया गया है उन क्षेत्रों में कृषि उत्पादकता में काफी अच्छा सुधार हुआ है (जैसे हरियाणा और पंजाब) किन्तु देश के अधिकांश भागों में अभी तक प्रौद्योगिकीय सुधारों को सफलतापूर्वक लागू किया जाना शेष है।

इसके अलावा, संस्थागत परिवर्तनों के क्षेत्र में हमारी प्रगति असंतोषजनक है और इनके माध्यम से जो सुधार आ सकते हैं वे अभी तक प्राप्त नहीं किए जा सके हैं।

भारतीय कृषि के लिए भावी सम्भावना

विशेषज्ञों का मानना है कि यद्यपि आत्मसन्तुष्टि का तो कोई कारण नहीं किन्तु फिर भी भारतीय कृषि की भावी सम्भावना पर्याप्त उज्ज्वल है। इसका कारण यह है कि, ऐसा महसूस होता है, कि कृषि में सुधार अभी प्रारम्भ ही हुए हैं और कई दिशाओं में उनके विस्तार की सम्भावनाएं हैं। प्रथम, कृषि में प्रौद्योगिकीय सुधारों की सम्भावनाओं पर विचार करते समय निम्नलिखित तथ्यों पर ध्यान दिया जाना चाहिए : उर्वरक उपभोग, जो अधिक उपज देने वाले बीजों की नई किस्मों और सम्बन्धित प्रौद्योगिकी को अपनाने का सूचक है, समूचे देश के लिए अब लगभग 50 कि०ग्रा० प्रति हैक्टेयर है किन्तु कुछ राज्यों जैसे आसाम, उड़ीसा, मध्य प्रदेश और राजस्थान में 10 कि०ग्रा० प्रति हैक्टेयर से भी कम है। यह इस आशा को आधार प्रदान करता है कि जैसे ही नई प्रौद्योगिकी का इन क्षेत्रों में विस्तार किया जाएगा भारतीय कृषि की उत्पादकता में और वृद्धि होगी।

इसी तरह, अक्सर यह भी कहा जाता है कि गेहूं और चावल के अलावा अन्य फसलों के क्षेत्र में भी अधिक उपज वाली किस्मों की तकनोलॉजी का विस्तार करके कृषि उत्पादकता में काफी अच्छे पैमाने पर वृद्धि की जा सकने की सम्भावना है। उदाहरण के लिए, दालें प्रोटीन का एक काफी महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं और प्रौद्योगिकी का व्यापक प्रयोग करके इनकी उत्पादकता को बढ़ाना सम्भव है।

दूसरी सम्भावना अच्छे जल-प्रबन्धन की है। अक्सर स्थिति यह है कि बड़ी सिंचाई परियोजनाओं के तहत आने वाले क्षेत्रों तक में भी तुलनात्मक रूप से दूर दराज़ के खेतों में जल-आपूर्ति का प्रबन्ध काफी कमज़ोर है। भविष्य में इन क्षेत्रों में अधिक अच्छा जल-प्रबन्धन करके कृषि उत्पादकता में वृद्धि करने की काफी सम्भावना है।

जिन क्षेत्रों में पानी के इन्पुट का पहुंच जाना (सिंचाई अथवा वर्षा द्वारा) आसान नहीं है उन क्षेत्रों की शुष्क कृषि भूमि में उचित प्रकार के प्रौद्योगिकीय सुधारों को लागू करने की भी सम्भावनाएं हैं।

इस प्रकार, संक्षेप में, विशेषज्ञों की राय में भारत में भविष्य में कम से कम निम्नलिखित चार तरीकों से तकनोलॉजी के प्रयोग के द्वारा कृषि उत्पादकता में वृद्धि की अच्छी खासी सम्भावनाएं नज़र आती हैं :

(अ) इन क्षेत्रों (आसाम, उड़ीसा आदि) में अधिक उपज वाली किस्मों की तकनोलॉजी का विस्तार करके।

(ब) गेहूं और चावल के अलावा अन्य फसलों (जैसे दालों) के लिए भी वैसे ही तकनोलॉजी का विकास करके;

(स) जल-प्रबन्धन की अच्छी तकनीक का विकास करके;

(द) अलग-अलग जलवायु वाली स्थितियों में उसके अनुरूप ही उचित तकनोलॉजी का विकास करके (जैसे, शुष्क भूमि खेती)।

इसके साथ ही भू-धारण नियमों, हदबन्दी कानूनों आदि को कड़ाई से लागू करने के रूप में संस्थागत परिवर्तनों की दृष्टि से भी काफी सुनहरा भविष्य दिखाई देता है। भूमि जोतने वाले किसानों के अधिकारों की रक्षा करने के महत्त्व के बारे में लोगों में चेतना बढ़ी है जिसके परिणामस्वरूप इन कानूनों को भविष्य में लागू करना अधिक आसान हो सकेगा। इन संस्थागत परिवर्तनों का कृषि उत्पादकता पर हरित-क्रान्ति से भी अधिक अनुकूल प्रभाव हो सकता है।

किन्तु जनसंख्या तत्त्व के कारण हमें इन सुनहरी सम्भावनाओं में कुछ न कुछ मात्रा में कटौती करनी पड़ती है। जैसा कि हमने ऊपर देखा है कि यद्यपि पिछले तीस वर्षों के दौरान भारत में खाद्यान्न उत्पादन

में काफ़ी तेज़ी से वृद्धि के साथ खाद्यान्नों की प्रति व्यक्ति उपलब्धि मुश्किल से ही अपनी गति बनाये रख पाई है और यह अभी भी अपर्याप्त है। इसके अलावा, देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि हुई है और इसके साथ ही जिनकी आय बढ़ी है उनकी खाद्यान्न की प्रति व्यक्ति मांग में भी वृद्धि हुई है। इस प्रकार भविष्य में मांग की ओर से बाज़ार में खाद्यान्नों की कीमतों पर और भी अधिक दबाव आएगा यदि कृषि उत्पादकता में पर्याप्त वृद्धि नहीं हो पाई तो खाद्यान्नों का लगातार अभाव बना रहेगा जो अमीरों की तुलना में गरीबों को और भी अधिक बुरी तरह से प्रभावित करेगा।

विशेष तौर पर कम आय वाले लोगों – जो कम मजदूरी पर काम करते हैं अथवा जो अनियमित रूप से रोज़गार प्राप्त हैं और जो बेरोज़गार हैं – के लिए भविष्य की सम्भावनाएं काफी खराब हैं क्योंकि कमी के कारण खाद्यान्नों की कीमतें तेज़ी से इस हद तक बढ़ जाती हैं कि वे गरीब वर्ग के लोगों की पहुंच से बाहर हो जाते हैं। ये कृषि के लिए भी बुरी सम्भावनाएं हैं क्योंकि कृषि श्रमिकों के बहुमत का इसी वर्ग से सम्बन्ध है। यदि वे गरीबी रेखा से नीचे धकेल दिए जाते हैं तो इनका अल्पशोषण स्वयं कृषि उत्पादकता को भी बुरी तरह प्रभावित करेगा। इस प्रकार जब खाद्यान्नों की कीमतों में वृद्धि होती है तब अल्पकाल में भले ही कुछ किसानों को खाद्यान्नों के विक्रेता के रूप में कुछ लाभ हो किन्तु इस प्रक्रिया में कृषि को तो नुकसान ही होगा।

औद्योगिक विकास – कृषि और उद्योग की पूरकता

हम पहले ही देख चुके हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि और उद्योग तथा तदानुरूप ग्रामीण और शहरी क्षेत्र कैसे एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं।

कृषि का उद्योगों के साथ जो सम्बन्ध है उनमें से कुछ पूर्ति की ओर से है। उदाहरण के लिए, हमने देखा कि ग्रामीण क्षेत्र से शहरी क्षेत्र की ओर कार्यशील जनसंख्या के सतत पलायन के माध्यम से किस प्रकार कृषि के अतिरिक्त श्रम की उद्योगों की आपूर्ति की जाती है। इसी तरह हमने यह भी देखा कि कृषि किस प्रकार अनेक उद्योगों को कच्चे माल की पूर्ति करने वाला प्रमुख स्त्रोत है। कच्चा कपास, जूट, तिलहन, गन्ने आदि वे प्रमुख कृषि उत्पाद हैं जो कपड़ा, खाद्य तेल, साबुन, चीनी एवं अन्य कई खाद्य-उद्योगों के लिए कच्चे माल का काम करते हैं।

हमने इस तथ्य का भी वर्णन किया है कि भारतीय कृषि हमारे औद्योगिकी उत्पादन का एक महत्त्वपूर्ण खरीददार है। कृषि में आधुनिकीकरण की बढ़ती हुई मांग के द्वारा किस प्रकार औद्योगिक विकास को सहायता पहुंचाई जा सकती है, इसके लिए हमने पीछे उर्वरक के उदाहरणों का उल्लेख किया था।

परन्तु इसे स्वीकार किया जाना चाहिए कि अनेक कारणों से जिनका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, उद्योगों द्वारा उत्पादित विभिन्न विनिर्मित उपभोग-वस्तुओं की मांग ग्रामीण क्षेत्र में उतनी नहीं बढ़ सकी है जितनी आशा की गई थी। इसका प्रमुख कारण यह है कि कृषि की आय में पर्याप्त वृद्धि नहीं हो पाई है, यह केवल मात्र 0.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ही बढ़ सकी है।

इसके अलावा, कृषि में जो कुछ सम्पन्नता हासिल की जा सकी है उसका अधिकांश भाग सम्पन्न कृषि परिवारों को मिला है। भारत में ग्रामीण अमीरों का उपभोग ढांचा शहरी अमीरों के जैसा ही है-इसमें वे जब कभी भी उनके लिए सम्भव हो पाता है आयातित उपभोग वस्तुओं का ही उपभोग करना पसन्द करते हैं। इस प्रकार, बढ़ी हुई कृषि आय के परिणामस्वरूप खाद्यान्नों की मांग में वृद्धि हुई है, और आयातित विलासिता वस्तुओं (अथवा ऐसी विलासिता वस्तुएं जिसमें काफी अधिक आयातित माल लगा होता है, जैसे, टी.वी. आदि) की मांग में वृद्धि हुई है जबकि सामान्य औद्योगिक वस्तुओं की मांग में कोई

विशेष वृद्धि नहीं हुई है। अतः अधिकांश मामलों में कृषि और उद्योगों की तुलना में कृषि और आयातों के बीच सम्बन्ध अधिक मज़बूत रहा है।

तीव्र औद्योगीकरण एवं सन्तुलित औद्योगिक ढांचे की आवश्यकता

एक सी अर्थव्यवस्था में जहां जनसंख्या में तेज़ी से वृद्धि हो रही हो (2.2 प्रतिशत प्रति वर्ष से भी अधिक की दर से) और जिसमें प्रति व्यक्ति आय का स्तर एक व्यक्ति का अफने पोषण के लिए आवश्यक खाद्यान्नों की न्यूनतम मात्रा खरीद करने के स्तर से थोड़ा ऊंचा हो वहां आर्थिक विकास की दर को बढ़ाने की बहुत ही तीव्र आवश्यकता है। इस दर को बढ़ाने का एक तरीका तीव्र औद्योगीकरण है। किन्तु अनुभव यह बताता है कि औद्योगीकरण सही और गलत दोनों प्रकार का हो सकता है।

हमारे विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारी आवश्यकता तीव्र आर्थिक विकास की ही नहीं है बल्कि हमारी आवश्यकता यह भी है कि यह आर्थिक विकास समाज के अमीर वर्ग के लोगों की बजाय गरीब वर्ग के लोगों का अधिक हो। वस्तुतः, वह आर्थिक विकास जिसके लाभ समाज में उचित प्रकार वितरित न हो पाएं सही माने में विकास ही नहीं है। यही कारण है कि आर्थिक विकास को अक्सर सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक विकास कहकर पहचाना जाता है।

हमने यह भी देखा कि रोज़गार ही एक ऐसा रास्ता है जिसके माध्यम से कार्यशील जनसंख्या अर्थव्यवस्था में अपने आपको खड़ा रख सकती है अथवा अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार ला सकती है। अतः आर्थिक विकास के साथ-साथ रोज़गार अवसरों में भी वृद्धि होनी चाहिए। अन्यथा राष्ट्रीय आय बढ़ सकती है और इसके परिणामस्वरूप संख्यात्मक रूप में प्रति व्यक्ति आय में समाज के बेरोज़गार, अल्प-बेरोज़गार, कम मज़दूरी प्राप्त अथवा अनियमित रोज़गार प्राप्त सदस्यों को कोई लाभ प्राप्त हुए बिना ही वृद्धि भी हो सकती है। रोज़गार के अलावा, सामाजिक न्याय की दृष्टि से जो दूसरा महत्त्वपूर्ण कारक है, वह है देश के विभिन्न प्रदेशों में आर्थिक अथवा औद्योगिक विकास का वितरण। स्पष्टः यदि कुछ प्रदेशों में काफी बड़ी मात्रा में उद्योग स्थित हों जबकि दूसरे प्रदेशों में बहुत ही कम हो तो इसका परिणाम होगा आर्थिक विकास में प्रादेशिक असन्तुलन।

प्रादेशिक असन्तुलन के अलावा, उद्योगों के ढांचे में एक दूसरे प्रकार का असन्तुलन भी हो सकता है। यद्यपि कम से कम निजी क्षेत्र में तो, उद्योगों की स्थापना लाभ के उद्देश्य से की जाती है किन्तु फिर भी अर्थव्यवस्था के सामाजिक उद्देश्य भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। उदाहरण के लिए, समाज यह तय कर सकता है कि पूंजी-वस्तु उद्योगों की तुलना में उपभोक्ता-वस्तु उद्योग अधिक होने चाहिए। अथवा अमीरों के लिए विलासिता की वस्तुएं उत्पन्न करने वाले उद्योगों (उदाहरण के लिए धुलाई मशीन बनाने वाले उद्योग) की बजाय आम आदमी के लिए उपभोक्ता वस्तुएं उत्पन्न करने वाले उद्योगों (उदाहरण के लिए, कम महंगे वस्त्रों का उत्पादन करने वाले वस्त्र उद्योग) को अधिक अच्छा माना जा सकता है।

संक्षेप में, भारतीय अर्थव्यवस्था को तीव्र औद्योगीकरण की आवश्यकता है किन्तु इसे कम से कम तीन अर्थों में असन्तुलित औद्योगिक ढांचे की भी आवश्यकता है।

(अ) तीव्र विकास के लिए विभिन्न उद्योगों का चुनाव इस प्रकार किया जाए जिससे कुल मिलाकर रोज़गार अवसरों में भी तेज़ी से वृद्धि हो।

(ब) इस प्रकार चुने हुए उद्योगों का देश के विभिन्न प्रदेशों में उचित प्रकार से वितरण हो-अर्थात् एक ऐसी औद्योगिक नीति हो जो विशेष रूप से विकास के लिए पिछड़े प्रदेशों के पक्ष में हो; और

(स) देश के छोटे से ही वर्ग की आवश्यकताओं को पूरा करे के लिए विलासिता वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों की तुलना में सामाजिक प्राथमिकता वाली वस्तुओं (उदाहरण के लिए 'मज़दूर वस्तुएं' जिनका मज़दूरों द्वारा प्रयोग किया जाता है) का उत्पादन करने वाले उद्योगों का चुनाव हो।

वर्तमान औद्योगिक ढांचा

यह याद रखना होगा कि भारत के औद्योगिक उद्यमों को मुख्य रूप से सार्वजनिक क्षेत्र निजी क्षेत्र में वर्गीकृत किया जा सकता है। वे कम्पनियां जिन पर सहकारी विभागों अथवा केन्द्र या राज्य सरकारों द्वारा स्थापित संस्थाओं का स्वामित्व होता है, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम कहलाते हैं। दूसरे सब निजी क्षेत्र के उद्यम हैं सिवाय उनके जिन पर सार्वजनिक क्षेत्र की संस्था और निजी उद्यम का संयुक्त स्वामित्व होता है अवा दोनों के शेयर्स होते हैं और इन्हें संयुक्त क्षेत्र के उद्यम कहा जाता है।

भारतीय उद्योगों के ढांचे को समझने के लिए निजी उद्यमों (संयुक्त क्षेत्र के उद्यमों समेत) को कभी-कभी निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जाता है :

(अ) गैर कारखाना विनिर्माण इकाईयां-ये भी दो प्रकार की होती हैं :

(1) ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में कुटीर उद्योग और (2) अन्य औद्योगिक इकाइयां जो इतनी छोटी हैं कि वे कारखाना कहलाने लायक नहीं है और इसलिए उन्हें ''छोटी'' विनिर्माण इकाइयां कहा जाता है।

(ब) ऐसे उद्यम जिन्हें काफी अधिक मात्रा में विदेशी विनिमय का प्रयोग करना पड़ता है जोकि भारत के लिए बहुत ही दुर्लभ स्रोत है-ये विदेशी विनिमय अधिनियम के प्रावधानों के तहत काम करते हैं और इन्हें फैरा (FERA) कम्पनियां कहा जाता है।

(स) ऐसे उद्यम जो इतने बड़े हैं कि जिन्हें एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापक अधिनियम (MRTP Act) के तहत काम करनापड़ता है, इन्हें एम०आर०टी०पी० (MRTP) कम्पनियां कहा जाता है।

(द) अन्य निजी उद्यम

भारत के औद्योगिक ढांचे में ये विभिन्न वर्ग कितने महत्त्वपूर्ण हैं ? इनके तुलनात्मक महत्त्व को समझने की दृष्टि से हम नीचे तालिका 12 को देखेंगे। यह तालिका भारत के शुद्ध घरेलू उत्पाद में इन विभिन्न वर्गों के औद्योगिक उद्यमों के प्रतिशत योगदान को बताती हैं।

तालिका 12 से यह स्पष्ट हो जाता है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को छोड़कर कुटीर उद्योग और ''छोटी'' विनिर्माण इकाइयां मिलकर भारत के शुद्ध घरेलू उत्पाद में सबसे बड़ा योगदान करती हैं।

भारत के गांवों में कुटीर उद्योग

कुटीर उद्योग गांव-आधारित होने की बजाय शहर-आधारित भी हो सकते हैं और उनमें से सर्वाधिक परिष्कृत उद्योग शहर-आधारित रहे भी हैं। वास्तव में, बनारस और जयपुर के पुराने शहर विश्व प्रसिद्ध हस्तकलाओं के परम्परागत घर रहे हैं। बनारस के सोने और सिल्क की ज़री के काम और जयपुर के जवाहरात संसार के सबसे अच्छे बाज़ारों में बड़े प्रसिद्ध रहे हैं। किन्तु अब कुटीर उद्योगों की भूमिका कम से कम क्षमता के अनुसार तो शहरों और कस्बों की बजाय गांवों के लिए ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि एक ओर तो आधुनिक उद्योग ने शहरी क्षेत्र को अपने अधिकार में ले लिया है, दूसरी ओर, केवल ग्राम उद्योग ही कृषकों को कृषि में बनाए रख सकते हैं, और साथ ही साथ उन्हें कृषि में जिस गुप्त एवं मौसमी बेरोज़गारी का सामना करना पड़ता है उसको भी कुछ मात्रा में दूर कर सकते हैं।

यदि किसान-परिवार को कुछ प्रशिक्षण, कुछ पूंजी और कुछ चुने हुए दस्तकारी उद्योगों के लिए कच्चे माल की नियमित पूर्ति की व्यवस्था की जा सके, वस्तु की मांग और इसके लिए त्रिपणन सुविधाओं को भी आश्वस्त बनाया जा सके तो कुटीर उद्योग व्यवसाय की दृष्टि से कृषि के स्थानापन्न नहीं वरन् पूरक बन सकते हैं। इस प्रकार एक आदर्श स्थिति के रूप में, एक किसान व्यस्त मौसम में भी एक दस्तकारी के काम पर आंशिक समय काम कर सकता है क्योंकि व्यस्त मौसम में भी कृषि के लिए उसके समूचे समय की आवश्यकता नहीं होती। दूसरी ओर, खाली मौसम में तो वह पूरा ही समय काम कर सकता है। क्योंकि उस समय उसके पास करने को और कोई काम नहीं होता। कुल मिलाकर वह सही अर्थों में पूर्णतया काम (रोज़गार) पर लगाया जा सकता है।

तालिका-12

भारतीय उद्योगों का ढांचा (खनन एवं विनिर्माण), 1985-86

उद्यम का वर्ग	शुद्ध घरेलू उत्पाद में योगदान (मूल्य संवृद्धि)
सार्वजनिक क्षेत्र उद्यम	31%
गैर-कारखाना विनिर्माण इकाइयां	28%
फैरा कम्पनियां	7%
एम०आर०टी०पी० कम्पनियां	14%
अन्य निजी कम्पनियां	20%
	100%

इस प्रकार कुटीर उद्योग ग्रामीण अर्थव्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग हो सकता है। यद्यपि गांवों के वर्तमान उत्पादन एवं रोज़गार में इनका कोई बड़ा योगदान नहीं है। किन्तु इस बात को समझने के लिए कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पुनरुत्थान में कुटीर उद्योग क्या भूमिका अदा कर सकते हैं हमें सबसे पहले यह जानना चाहिए कि कुटीर उद्योग वस्तुओं का निर्माण करने वाली कारखाना प्रणाली से किस प्रकार भिन्न हैं।

आधुनिक औद्योगिक उत्पादन के तरीके की एक विशेषता यह है कि इसमें श्रमिक को अपना घर छोड़ना पड़ता है और अपने परिवार से दूर अपने काम के स्थान पर जाना पड़ता है। इसमें वह अपनी श्रम शक्ति को एक ऐसे पूंजीपति को बेचता है जो उत्पादन प्रक्रिया को संगठित करता है। श्रमिकों के परिवारों की जीवन-प्रणाली और उत्पादन की प्रक्रिया जिसमें वह अपनी श्रम शक्ति को बेचता है ये दोनों अनिवार्य रूप से एक आधुनिक उद्योग के श्रमिक के लिए दो अलग-अलग संसार हैं। फिर चाहे उद्योग बड़े पैमाने वाला हो चाहे छोटे पैमाने वाला। किन्तु यह अलग औद्योगिक उत्पादन की परम्परागत प्रणाली की विशेषता नहीं थी। परम्परागत रूप से कोई घर अथवा झोंपड़ी किसी हस्तशिल्प का उत्पादन करने वाले समूचे परिवार के लिए कार्य का स्थान हो सकती थी। फिर चाहे वह वस्तु हथकरघे द्वारा बनाये जाने वाला कपड़ा थी अथवा हाथ से बनाया जाने वाला धातु का बर्तन, अथवा परिवार के सदस्यों द्वारा बुना जाने वाला कारपेट अथवा ऐसी ही अन्य कोई चीज़। यह कश्मीरी शाल जैसी कोई बहुत ही ऊंची किस्म की वस्तु भी हो सकती थी जिसे विश्व के बाज़ारों में बहुत ही ऊंची कीमतों पर बेचा जाता था। यह गांव के

सामान्य व्यक्तियों के उपभोग में काम आने वाली कोई साधारण प्रकार की वस्तु भी हो सकती थी। किन्तु इस सब कुटीर उद्योगों में जो बात समान रूप से पाई जाती है। यह थी कि परिवार इसे एक पारिवारिक उद्योग के रूप में ही चलाता था।

हमारे देश में कुटीर उद्योगों के दुर्बल पड़ जाने के कई कारण हैं : प्रथम, आधुनिक उद्योगों के उत्पादों की ओर से बाज़ार में काफी तीव्र प्रतियोगिता रहती है। इस प्रकार, विशेषत: कम कीमत की श्रेणी के हैण्डलूम के कपड़े का स्थान मिल के कपड़े ने लिया, पीतल के बर्तनों का स्थान शीशे के और स्टेनलेस स्टील के बर्तनों ने ले लिया और इसी प्रकार के अन्य और उदाहरण भी हैं।

द्वितीय, पर्याप्त मात्रा में इतना वित्त जुटाने की समस्या है जो बड़े पैमाने के उद्योगों के साधनों का मुकाबला कर सके। कारखाना आधारित उद्योग के विपरीत ग्रामीण कुटीर उद्योग की पुंजी पर बहुत कम पहुंच है।

तृतीय, आधुनिक व्यवसायिक पद्धतियों, डिज़ाइन के कौशल, पैकेज़िंग, विपणन, और विज्ञापन तकनीकों, जो आधुनिक उपभोक्ता तक पहुंचने के लिए ज़रूरी हैं, के बारे में जानकारी प्राप्त करने की भी समस्या है। दुर्भाग्य से, हमारे ग्रामीण दस्तकार इन सब मामलों में काफी अच्छे हैं।

इस प्रकार, भारत में हम विशेष प्रकार की निराशाजनक स्थिति देखते हैं। हमारे ग्रामीण कुटीर उद्योग वर्तमान में कारखाना-आधारित विनिर्माण उद्योगों के साथ प्रतियोगिता नहीं कर सकते, यद्यपि इसके पुनरुत्थान के मार्ग खोजे जा सकें तो इनमें ग्रामीण बेरोज़गार एवं गरीबी को कम करने की काफी सम्भावनाएं दिखाई देती हैं।

स्वयं भारतीय संविधान के नीति निर्देशक सिद्धान्तों द्वारा कुटीर उद्योगों के महत्त्व को निस्सन्देह रूप में स्वीकार गया है उनकी विशिष्ट आवश्यकताओं की देखभाल करने के लिए खादी एवं ग्रामोद्योग कमीशन की स्थापना की गई। बिक्री को आर्थिक सहायता देने, विपणन को प्रोत्साहित करने तथा डिज़ाइन व उत्पादन में विशेषज्ञ सलाह प्रदान करने की दृष्टि से केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा पिछले वर्षों के दौरान काफी काम किया गया है। किन्तु इन सबके परिणामों को कोई बहुत अधिक संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। खादी और ग्रामोद्योग को मिलाकर इनमें पूरा समय रोज़गार पर लगे लोगों की संख्वा और इनके उत्पाद के सम्मिलित मूल्य के 1985-86, 1986-87 और 1987-88 के तीन वर्ष के आंकड़ों को तालिका 13 में दिखाया गया है।

तालिका-13
खादी और ग्राम उद्योगों में रोज़गार एवं उत्पादन

वर्ष	पूर्ण समय रोज़गार प्राप्त लोगों की संख्या (000)	वार्षिक वृद्धि	प्रचलित कीमतों पर उत्पादन का मूल्य (करोड़ रु०)
1985-86	3908	–	1124
1986-87	4070	4.14%	1317
1987-88	4180	2.70%	1488

जब हम भारत की ग्रामीण बेरोज़गारी की समस्या के आकार को देखते हैं तो रोज़गार के ये आंकड़े कुछ निराशाजनक ही लगते हैं। 1981 की जनगणना के अनुसार भारत की ग्रामीण श्रम शक्ति 25 करोड़

के लगभग थी। यदि अल्प-रोज़गार प्राप्त लोगों की गणना न की जाए तो इसमें से 1.3 करोड़ लोगों के खुले बेरोज़गार होने का अनुमान है। इसके मुकाबले में खादी और ग्रामोद्योग दोनों में 1987-88 में केवल मात्रा 41.8 लाख लोगों को रोज़गार मिलना एकदम अपर्याप्त ही माना जाएगा।

लघु पैमाना क्षेत्र

"लघु-पैमाने" की परिभाषा औद्योगिक इकाइयों में लगे संयंत्र एवं मशीनरी के मूल्य के आधार पर ही दी जाती है। आजकल इस मूल्य की अधिकतम सीमा 35 लाख रु० की है।

कुटीर एवं ग्राम उद्योगों की कमज़ोर स्थिति के एकदम विपरीत, लघु पैमाना क्षेत्र की प्रगति संतोषजनक रही है। यह भी शायद वह क्षेत्र हैं जहां सरकार की औद्योगिक नीति के सर्वोत्तम परिणाम निकले हैं।

लघु पैमाने के उद्योगों पर विशेष ध्यान देने का आधार भारत की सन्तुलित औद्योगिक विकास की नीति में स्वीकृत तीन प्राथमिकताएं रही हैं। ये हैं (1) रोज़गार का सृजन, (2) बड़े औद्योगिक घरानों की एक छोटी-सी संख्या के हाथों में सम्पत्ति एवं औद्योगिक सत्ता के और अधिक केन्द्रीकरण का रोकना, और (3) पिछड़े प्रदेशों को विशेष प्राथमिकता देते हुए नई औद्योगिक इकाइयों की स्थापना करते समय प्रादेशिक विकेन्द्रीकरण।

रोज़गार सृजन, सम्पत्ति एवं औद्योगिक सत्ता के समान वितरण, और विभिन्न प्रदेशों के बीच उद्योगों के समान वितरण के इन तीनों उद्देश्यों को पूरा करने की दृष्टि से सरकार ने लघु क्षेत्र के लिए निम्नलिखित प्रकार के प्रोत्साहनात्मक उपाय प्रारम्भ किए हैं :

(अ) कई वस्तुओं (जब इस सूची में 847 वस्तुएं शामिल हैं) के उत्पादन को विशेष रूप से लघु पैमाने की इकाइयों के लिए ही रिजर्व कर दिया गया है। इस रिजर्व सूची में आई वस्तुओं के उत्पादन के लिए बड़े उद्योगों को नये लाइसेंस नहीं दिए जाएंगे।

(ब) सरकारी (और सार्वजनिक क्षेत्र की) संस्थाओं की क्रय नीति में बड़े पैमाने के उद्योगों की वस्तुओं की तुलना में छोटे पैमाने के उद्योगों की वस्तुओं को प्राथमिकता दी जाएगी।

(स) छोटे पैमाने की इकाइयों को ऐसी कई प्रकार की कर व शुल्क रियायतें तथा दूसरी वित्तीय प्रेरणाएं प्राप्त होंगी जो बड़े पैमाने की इकाइयों को उपलब्ध नहीं हैं।

1973-74 से 1984-85 की अवधि के दौरान (कुछ आवश्यक संशोधनों के साथ) लघु पैमाने क्षेत्र की वृद्धि दर का रिजर्व बैंक अनुमान प्रचलित कीमतों पर 17.5 प्रतिशत प्रति वर्ष का आता है। लघु पैमाने क्षेत्र (14.57 लाख इकाइयों में) रोज़गार पर लगे लोगों की संख्या का 1986-87 का अनुमान लगभग 1 करोड़ का है। कुछ विशेषज्ञों की राय में यह अनुमान काफी कम है, इस प्रकार लघु पैमाना क्षेत्र की रोज़गार सृजन की क्षमता शायद इससे भी अच्छी है।

बड़े पैमाने के उद्योग

ऊपर हमने देखा कि निम्नलिखित तीन दृष्टियों से भारतीय अर्थव्यवस्था के भविष्य के लिए एक ओर कुटीर व ग्रामोद्योग तथादूसरी ओर लघु पैमाने क्षेत्र कितने अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

(अ) रोज़गार का और अधिक सृजन, (ब) आय व सम्पत्ति का अधिक समान वितरण और (स) औद्योगीकरण का अधिक समान प्रादेशिक वितरण। निस्सन्देह रूप से, यह बताया जाना चाहिए कि जहां तक उद्योगों के वर्तमान ढांचे का सवाल है उद्योगों में निवेश की गई स्थिर पूंजी का अधिकांश भाग बड़े पैमाने की औद्योगिक इकाइयों का ही है और ये ही कारखाना क्षेत्र में औद्योगिक उत्पादन के सबसे बड़े

भाग का उत्पादन करती हैं। इनमें इस समय लगभग 63 लाख रोज़गार पर लगे हुए हैं जो कारखाना क्षेत्र में काम करने वाली औद्योगिक श्रम शक्ति का एक काफी बड़ा भाग है। 1984-85 के वर्ष के लिए इनमें से कुछ तथ्यों को नीचे की तालिका 14 बताती है। सरलता की दृष्टि से सभी आंकड़ों को एक पूरी संख्या तक बना दिया गया है।

उत्पादन के प्रकार के आधार पर बड़े पैमाने के उद्योगों का वर्गीकरण

मोटे तौर पर भारत के बड़े पैमाने के उद्योगों की चार महत्त्वपूर्ण श्रेणियां हैं : (अ) आधार भूत उद्योग, (ब) पूंजीगत वस्तु उद्योग, (स) मध्यवर्ती वस्तु उद्योग और (द) उपभोक्ता वस्तु उद्योग।

आधारभूत उद्योग वे होते हैं जो सभी महत्त्वपूर्ण उद्योगों और कृषि को आवश्यक इनपुट्स प्रदान करते हैं। इनमें शामिल हैं कोयला, कच्चा लोहा, उर्वरक, कास्टिक सोडा, सीमेंट, स्टील, एल्यूमिनियम और बिजली।

पूंजी वस्तु उद्योग वे हैं जो सभी उद्योगों एवं कृषि के लिए मशीनरी व उपकरणों का उत्पादन करते हैं। इन उद्योगों में शामिल हैं मशीनी औज़ार, ट्रैक्टर, बिजली के ट्रांसफार्मर और मोटर वाहन।

मध्यवर्ती वस्तु उद्योग उन वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जो किन्हीं दूसरे उद्योगों की उत्पादन प्रक्रिया में प्रयोग की जाती हैं अथवा उद्योगों में पूंजी वस्तुओं के सहायक उपकरण के रूप में प्रयोग की जाती हैं जैसे आटोमोबाइल टायर्स और पैट्रोलियम रिफायनरी उत्पाद।

तालिका-14
निवेश, उत्पादन और रोज़गार में बड़े पैमाने के कारखानों का हिस्सा
(1982-83)

बड़े पैमाने के कारखानों की संख्या	कारखाना क्षेत्र के स्थिर पूंजी निवेश में हिस्सा	कारखाना क्षेत्र के उत्पादन में हिस्सा	कारखाना क्षेत्र के रोज़गार में हिस्सा
30,000	96%	90%	78%

उपभोक्ता वस्तु उद्योगों में शामिल हैं, वस्त्र, चीनी, कागज़, बाइसिकल आदि।

भारत कई आधारभूत और पूंजीगत वस्तु उद्योगों के मामले इस मायने में लगभग आत्मनिर्भर है कि ये अर्थव्यवस्था की घरेलू मांग को पूरा करने के लिए अब पर्याप्त मात्रा में उत्पादन कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, भारत अपनी अर्थव्यवस्था के लिए आवश्यक बिजली और ट्रांसमिशन के सभी उपकरणओं का उत्पादन कर सकता है और मशीनी औज़ारों एवं अन्य उपकरणों की मांग के भी एक काफी बड़े भाग को पूरा कर सकता है। यदि हम 1970 और 1986 के उत्पादनों की तुलना करें तो पाएंगे कि कुछ वस्तुओं के उत्पादन में काफी अच्छी वृद्धि हुई है जैसा कि तालिका 15 से पता चल सकेगा।

जिस तरह हमने उद्योगों के प्रकार के अनुसार उद्योगों का वर्गीकरण किया है, उसी तरह हम उनका स्वामित्व के प्रकार के अनुसार भी वर्गीकरण कर सकते हैं, जैसा कि हमने तालिका 12 में किया था।

हम पहले से भी यह जानते हैं कि हमारी मिश्रित अर्थव्यवस्था में मुख्य रूप से आधारभूत और पूंजीवस्तु उद्योगों का एक काफी बड़ा सार्वजनिक क्षेत्र, एक अच्छा बड़ा निजी क्षेत्र और एक संयुक्त क्षेत्र

(जिसमें सरकार और निजी उद्यम दोनों मिलकर संयुक्त रूप में औद्योगिक इकाइयों पर स्वामित्व रखते हैं) भी है।

तालिका 16 बताती है कि 1982-83 में समूचे कारखाना क्षेत्र में लगी हुई उत्पादक पूंजी के सन्दर्भ में स्वामित्व के तीनों प्रकारों के बीच उद्योग किस प्रकार बंटे हुए थे।

तालिका-15

1970 और 1986 के बीच बड़े पैमाने के क्षेत्र में आधारभूत, पूंजीवस्तु और मध्यवर्ती वस्तु उद्योगों की कुछ चुनी हुई मदों के उत्पादन की प्रगति

	1970-1986 के दौरान उत्पादन में प्रतिशत वृद्धि
आधारभूत	
1. कोयला	122
2. उर्वरक	592
3. कास्टिक सोडा	103
4. बिजली	235
पूंजी वस्तुएं	
5. मशीनी औज़ार	630
6. ट्रैक्टर	286
7. ट्रांसफार्मर	180
मध्यवर्ती वस्तुएं	
8. टायर्स	200
9. पैट्रोलियम उत्पाद	144

चूंकि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम सामान्यतया सभी बड़े पैमाने के हैं, तालिका वास्तव में यह बताती है कि उद्यमों के प्रत्यक्ष सरकार निवेश समूचे कारखाना क्षेत्र में निवेशित पूंजी के 60 प्रतिशत से भी अधिक भाग पर नियन्त्रण करके भारत के बड़े पैमाने के औद्योगिक क्षेत्र में कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

बड़े पैमाने के उद्योगों के प्रोत्साहन के लिए उठाए गए कदम

जिस प्रकार से भारत की औद्योगिक नीति कुटीर एवं ग्राम उद्योगों के विकास पर काफी बल देती है, उसी तरह इसकी रणनीति में एक मजबूत पूंजीगत आधार का विकास करना भी है जो विस्तृत और विविधतापूर्ण दोनों हों।

हमने अभी देखा है कि भारत के आधारभूत एवं पूंजीगत वस्तु उद्योगों के विकास का कार्य ज्यादातर प्रत्यक्ष रूप से सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश के माध्यम से ही किया गया है। हमने तालिका 12 में यह भी देखा कि शुद्ध घरेलू उत्पाद में औद्योगिक (खनन और विनिर्माण) क्षेत्र के योगदान में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का ही सबसे बड़ा हिस्सा है (यह 1985-86 में 31 प्रतिशत था)। जहां तक निजी क्षेत्र में बड़े पैमाने के उद्योगों की प्रगति का सवाल है, दोनों दृष्टिकोण रहे हैं : औद्योगिक लाइसेंस के माध्यम से प्रत्यक्ष

दृष्टिकोण और कर-रियायत आदि के रूप में प्रेरणाएं प्रदान करने के माध्यम से अप्रत्यक्ष दृष्टिकोण। अभी हाल में ही उठाए गए कदम उद्योगों के लाइसेंस से संबंधित नियमों व उपनियमों में उदारीकरण के रूप में रहे हैं।

औद्योगिक विकास एवं नियमन अधिनियम, 1951 के अन्तर्गत सभी विनिर्माण इकाइयों का रजिस्ट्रेशन (पंजीकरण) करना होता है और उन्हें इस अधिनियम के तहत सरकार द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करना होता है। समय के साथ-साथ, ये नियम और उपनियम इतने अधिक जटिल और प्रतिबन्धात्मक बन गए कि उद्योग विशेषकर बड़े पैमाने के क्षेत्र की प्रगति में इनके कारण काफी रुकावट आने लगी थीं। बड़े पैमाने के क्षेत्र में उदारीकरण की नीति के तीन उद्देश्य हैं।

प्रथम, उद्योगों को प्रौद्योगिकी के सुधार के लिए प्रोत्साहन दिया जाएगा। जहां कहीं सम्भव हो वहां आधुनिक औद्योगिक तकनोलॉजी को अपनाने के लिए कई प्रकार की राजकोषीय और वित्तीय प्रेरणाएं होंगी।

तालिका-16
स्वामित्व के प्रकार के अनुसार औद्योगिक क्षेत्र (कारखाना) का ढांचा
1982-83

स्वामित्व का प्रकार	कारखाना क्षेत्र में निवेशित कुल उत्पादन पूंजी का अनुपात
सार्वजनिक क्षेत्र	60.67%
संयुक्त क्षेत्र	7.37%
निजी क्षेत्र	31.96%
	100%

द्वितीय, उद्योगों को लागत-कुशलता प्राप्त करने के लिए सब प्रकार की सहायता दी जाएगी। जो नियम कार्यकुशलता में बाधक हैं और उसके परिणामस्वरूप उद्योग की लागत को बढ़ाने की प्रवृत्ति रखते हैं, उन्हें बदला जायेगा अथवा हटाया जाएगा।

तृतीय, पहले दो उद्देश्यों के अनुरूप संयंत्र व उपकरणों के आधुनिकीकरण के लिए खूब सहायता दी जाएगी।

प्रौद्योगिकी सुधार और संयंत्र आधुनिकीकरण के उद्देश्य से सरकार क्रमशः दो कोषों की स्थापना करेगी (अ) प्रौद्योगिकी सुधार कोष, मुख्यतः पूंजी वस्तु उद्योग के पांच उत्पादों के लिए और (ब) पूंजी आधुनिकीकरण कोष।

उद्योगों में प्रादेशिक विषमताएं

हमने अध्याय 2 (तालिका 8) में देखा है कि भारत के विभिन्न राज्यों की प्रति व्यक्ति आय (राज्य घरेलू उत्पाद) कैसे भिन्न-भिन्न हैं। पंजाब और हरियाणा दो सबसे अमीर राज्य हैं जिनकी प्रति व्यक्ति आय 1987-88 में क्रमशः 4719 रुपए और 3925 रुपए थी। दूसरे छोर पर उड़ीसा और बिहार जिनकी प्रति व्यक्ति आय क्रमशः 1957 रुपए और 1802 रुपए है। ये पंजाब और हरियाणा की आय के आधे से भी कम हैं।

राज्यों की आय में इतनी बड़ी विषमताओं का एक प्रमुख कारण यह है कि बिहार और उड़ीसा की तुलना में पंजाब और हरियाणा में, कृषि में हरित-क्रान्ति के फलस्वरूप आई सम्पन्नता के अलावा, औद्योगीकरण भी काफी तेज़ गति से हुआ है।

जैसा कि हमने नोट किया है कि पिछले कुछ वर्षों से सरकार द्वारा अपनाए गए तरीके कई प्रकार के रहे हैं. इनमें से कुछ का वर्णन नीचे किया जा रहा है :

प्रथम, 1968 में सरकार ने 246 ज़िलों की ''पिछड़े'' ज़िलों के रूप में पहचान की। इन ज़िलों में स्थापित उद्योगों को राजकोषीय प्रेरणाएं एवं आर्थिक सहायता प्रदान की गई। द्वितीय, 1978 में, उद्योगों के प्रादेशिक विकेन्द्रीयकरण को प्रोत्साहित करने के लिए औद्योगिक लाइसेंस के नियमों का प्रयोग करने का निश्चय किया गया। इसके अनुसार औद्योगिक विकास एवं नियमन अधिनियम में कुछ ढील दी गई है और यदि पिछड़े क्षेत्र में कोई बड़ा औद्योगिक घराना ऐसा उद्योग लगाना चाहता है जिसके बारे में पहले उसे मनाही थी तो उसे भी अब इज़ाजत दी गई।

तीसरा कदम 1981 में उठाया गया। इसके अनुसार ''कोई उद्योग नहीं'' वाले ज़िलों के विचार को लागू किया गया और इन्हें सब योजनाओं में सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई तथा नए उद्योगों को आकर्षित करने के लिए अधिसंरचनात्मक सुविधाएं प्रदान की गई।

चौथा कदम लाइसेंसिंग नीति में अनिवार्यता के तत्व को लागू करने के रूप में रहा है। इसके अनुसार बड़े औद्योगिक घरानों (एम.आर.टी.पी. कम्पनियों) को पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयों को लगाने के लिए बाध्य किया जाता है।

इन प्रयासों के परिणाम अभी तक स्पष्ट रूप से सामने नहीं आ पाए हैं। कुछ विशेषज्ञों का यह मानना है यद्यपि उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण एक अच्छा उद्देश्य है किन्तु विकेन्द्रीयकरण में जबरदस्ती अकार्यकुशलता को बढ़ा सकती है और औद्योगिक उत्पादकता को घटा सकती है।

औद्योगिक उत्पादकता एवं कार्यकुशलता

उद्योगों की उत्पादकता एवं कार्यकुशलता के बारे में तीन प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं। इनमें से प्रत्येक का उत्तर किसी भी एक उद्योग की कुशलता का माप है।

प्रथम प्रश्न है : यदि हम किसी उद्यम की उत्पादक पूंजी में कुछ थोड़ी-सी वृद्धि करते हैं तो उत्पादन में कितनी वृद्धि होगी ? यदि उद्यम की उत्पादकता ऊंची है तो उत्पादन में उस स्थिति की तुलना में अधिक वृद्धि होगी जब उद्योग की उत्पादकता नीची है। अतः इस प्रश्न का उत्तर पूंजी की उत्पादकता, अथवा उत्पादन व वृद्धिगत पूंजी सम्बन्ध को मापता है। परम्परा यह है कि इस माप को ''उत्पादन-वृद्धिगत पूंजी अनुपात'' के रूप में प्रयोग करने की बजाय ''बुद्धिगत पूंजी-उत्पादन अनुपात'' के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसका अर्थ है कि अनुपात जितना बड़ा होगा वृद्धिगत पूंजी उतनी ही कम उत्पादक पाई जाती।

कई वर्षों के दौरान भारतीय उद्योगों के शुद्ध वृद्धिफल पूंजी-उत्पाद अनुपात में वृद्धि हुई है जो औद्योगिक उत्पादकता कमी का संकेत हैं। किन्तु अब फिर से इसमें कमी के चिन्ह प्रकट हो रहे हैं जो एक अच्छा संकेत है। यद्यपि यह अपने आप में निश्चित रूप से कुछ नहीं बता पाता है।

दूसरा प्रश्न : यदि हम प्रौद्योगिकीय दृष्टि से सुझाए गए संयोग के अनुसार कभी साधनों की मात्रा में कुछ वृद्धि करते हैं तो उत्पादन में कितनी वृद्धि होगी ? इस प्रश्न का उत्तर केवल पूंजी ही नहीं बल्कि उत्पादन में लगे सभी साधनों की उत्पादकता को मापेगा। कार्यकुशलता का यह माप कुल साधन

उत्पादकता कहलाता है। यद्यपि संकेत ये हैं कि कई भारतीय उद्योगों में कुल साधन उत्पादकता में वृद्धि हो रही है किन्तु अभी तक वास्तविक माप विश्वसनीय नहीं है।

तीसरा प्रश्न है : क्या वस्तु विशेष का घरेलू साधनों का प्रयोग करके उत्पादन करने के बजाय इसे अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार से खरीदना सस्ता होगा ? इस प्रश्न का उत्तर अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों पर घरेलू साधन लागत के माप पर आधारित है।

कई पूंजी वस्तुएं जैसे भारतीय उद्योगों द्वारा उत्पादित विद्युत मशीनरी और कुछ मशीनरी औज़ारों को घरेलू साधन लागत के माप के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से प्रतियोगी होने के कारण कुशल कहा जा सकता है। किन्तु उन्नत प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारतीय उद्योग अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार मानको (अर्थात् घरेलू साधन लागत के रूप में) के आधार पर अभी भी अकार्यकुशल हैं।

उद्योगों की अकार्यकुशलता एवं निम्न उत्पादकता के कारण

ऊपर बताए गए कार्यकुशलता के सभी तीनों मापों के बारे में हमें जो कुछ सीमित प्रमाण उपलब्ध हैं वे बताते हैं कि जहां कुछ अधिक आधुनिक उद्योगों में उच्च कार्य कुशलता के कुछ पेबंद दिखाई देते हैं वहां दूसरे क्षेत्रों में निम्न उत्पादकता ही है। भारतीय उद्योगों की निम्न उत्पादकता के जिन कारणों की विशेषज्ञों ने पहचान की है, वे निम्नलिखित हैं :

1. प्रौद्योगिकी सुधार के लिए प्रेरणाओं का अभाव।
2. संयंत्र और मशीनरी के आधुनिकीकरण के लिए प्रेरणाओं का अभाव।
3. अन्वेषण व विकास कार्यक्रमों का अभाव।
4. विद्युत् पूर्ति जैसी पर्याप्त अधिसंरचनात्मक सुविधाओं का अभाव।

लागत और कीमत से सम्बन्धित विपरीत परिस्थितियों के अलावा जिनका सामना अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ारों में तीसरे विश्व के सभी देशों के उद्योगों को करना पड़ता है, निम्न औद्योगिक उत्पादकता के ऊपर बताए गए कारण ही मुख्य कारण हैं। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं कि भारत की औद्योगिक नीति के सूत्र हाल के वर्ष में मुख्य रूप से औद्योगिक लाइसेंस नियमों के उदारीकरण के माध्यम से इन समस्याओं को सम्बोधित करने का प्रयास करते हैं।

औद्योगिक विकास की भावी सम्भावनाएं

हमारे उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भारतीय अर्थव्यवस्था में औद्योगिक विकास की सम्भावनाएं कम से कम निम्नलिखित तीन क्षेत्रों में क्या होने की आशा है, इन पर निर्भर करेगा : (अ) कुटीर व ग्राम उद्योग तथा गैर-कारखाना विनिर्माण क्षेत्र में अन्य ''छोटी'' इकाइयां (ब) लघु-पैमाने का कारखाना क्षेत्र, और (स) बड़े पैमाने का कारखाना क्षेत्र।

कुटीर व ग्राम उद्योगों की वर्तमान स्थिति कोई अच्छी नहीं है। किन्तु फिर भी, ग्रामीण बेरोज़गारी की विशिष्ट विशेषताओं के कारण विशेषकर भारत में किसानों की मौसमी बेरोज़गारी के कारण कुटीर व ग्रामोद्योग बड़ी सम्भावनाएं रखते हैं। बशर्ते कि इनका पुनरुत्थान किया जा सके। छोटी विनिर्माण इकाइयां में भी सम्भावनाएं छिपी हैं किन्तु इसके बारे में हमारा अनुभव अभी तक कोई अच्छा नहीं है।

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं कि लघु-पैमाने के कारखाना क्षेत्र ने अपनी वर्तमान उपलब्धि तथा समानता व रोज़गार सृजन के अन्य उद्देश्यों को पूरा करने की क्षमता ने दोनों ही आधारों पर अभी तक सर्वाधिक सम्भावनाओं का प्रदर्शन किया है।

बड़े पैमाने के उद्योगों की मिश्रित सम्भावनाएं हैं। यदि कार्यकुशलता की कसौटी जिसका हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं, का कड़ाई से पालन किया जाए तो सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक विकास के उद्देश्यों को पूरा कर सकते हैं। विशेषज्ञों का ऐसा मानना है कि भारत का सार्वजनिक क्षेत्र अतिरिक्त श्रम शक्ति के भार से दबा पड़ा है और इस प्रकार इसमें उसी प्रकार से ''गुप्त बेरोज़गारी'' पाई जाती है जिस प्रकार से कृषि में पाई जाती है।

जहां तक निजी क्षेत्र का सवाल है कि कुछ आधुनिक उद्योगों के बने रहने अथवा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से प्रतियोगिता में टिके रहने की अच्छी सम्भावनाएं हैं। इनमें से कुछ पूंजीगत वस्तु उद्योगों में से हैं जो भारतीय औद्योगिक ढांचे की आधारभूत क्षमता को बताते हैं।

किन्तु कुछ पुराने उद्योग (उदाहरण के लिए, वस्त्र एवं जूट वस्तु उद्योग) कठिनाई में हैं। यह ही वह क्षेत्र हैं जहां प्रौद्योगिकी के सुधार, उपकरणों के आधुनिकीकरण, लागत कार्यकुशलता के प्रयोग और आधुनिक प्रबन्ध तकनीकों आदि की सर्वाधिक आवश्यकता है। चूंकि ये उद्योग लोगों की एक काफी बड़ी संख्या को रोज़गार प्रदान कर सकते हैं अतः अर्थव्यवस्था के लिए इनका अस्तित्व बहुत आवश्यक है।

संक्षेप में भावी सम्भावनाएं इस बात पर निर्भर करती हैं कि उदारीकरण एवं अन्य उपाय जिनका अब प्रयोग किया जा रहा है, विकास के रास्ते की कठिनाइयों को दूर करने में तथा जहां उत्पादकता और कार्यकुशलता पहले से ही ऊंची है वहां और आर्थिक प्रगति की प्रेरित करने में कैसे और किस हद तक सफल होते हैं।

विदेशी व्यापार

शेष संसार के साथ भारत के व्यापार एवं अन्य वित्तीय सौदों के विवरण के बिना हमारी अर्थव्यवस्था का वर्णन अधूरा ही रहेगा। अभी तक हमने इस तथ्य के बारे में विचार नहीं किया है कि विश्व के बाज़ारों की मांग और पूर्ति की शक्तियां देश की अर्थव्यवस्था की मांग और पूर्ति की शक्तियों से टकराती हैं–और उसी के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति उत्पन्न होती है। विभिन्न देशों के बीच व्यापार की प्रेरणा ठीक होती है जो एक देश के भीतर के व्यापार की होती है। एक पूर्तिकर्ता अपनी वस्तुओं को कलकत्ता से दिल्ली में उन वस्तुओं को कलकत्ता से दिल्ली तब भेजेगा जब वह देखेगा कि कलकत्ता की तुलना में दिल्ली में उन वस्तुओं की कीमत अधिक है। परिवहन लागतों के अन्तर को ध्यान में रखते हुए यदि वह न्यूयार्क में इससे भी अधिक कीमत पाता है तो वह अपनी वस्तुओं को दिल्ली की बजाय कलकत्ता से न्यूयार्क भेजेगा। इसी तरह, एक खरीददार सस्ते से सस्ते बाज़ार से खरीदने का प्रयास करेगा, वह चाहे फिर देश के भीतर हो अथवा बाहर।

परन्तु विदेशी व्यापार के मामले में जो अन्तर है वह यह है कि इसमें हमारे देश की मुद्रा का दूसरे सम्बन्धित देश की मुद्रा के साथ विनिमय करना होता है। जब हम अपनी वस्तुओं का निर्यात करते हैं तो विदेशी मुद्रा अथवा ''विदेशी विनिमय'' के लिए बेची जाती हैं। विदेशी विनिमय के हमारे इस अर्जन के द्वारा ही हम विदेशों में अपनी खरीद के लिए अर्थात् आयातों के लिए भुगतान करने में समर्थ हो पाते हैं। इसी तरह हम कह सकते हैं कि विदेशी मुल्क हमें अपनी वस्तुएं बेचकर रुपया कमाते हैं। यह उन्हें हमारे बाज़ारों में खरीद के लिए समर्थ बनाता है। जब एक व्यक्तिगत व्यापारी अपनी वस्तुओं को बाहर भेजता है, माना न्यूयार्क भेजता है, तो वह अमेरिका के डालर कमाता है जिन्हेंउसे रुपयों में बदलने की ज़रूरत होती है। इसी प्रकार, जब वह न्यूयार्क से वस्तुएं खरीदता है तो उसे अपने रुपयों के बदले डालर की आवश्यकता होती है।

एक स्वतन्त्र बाज़ार कीं स्थिति में, रुपये एवं डालर के बीच विनिमय की दर का निर्धारण हमारे देश में अमेरिका की वस्तुओं एवं पूंजी की तथा अमेरिका में हमारी वस्तुओं व पूंजी की तुलनात्मक मांग के द्वारा होता है। सरकारी तौर पर अक्सर दो देशों द्वारा वास्तविक विनिमय दर का निर्धारण मुख्य रूप से इसी बात को ध्यान में रखकर किया जाता है। यद्यपि दोनं देशों की मांग में अस्थायी तौर पर आने वाले उतार-चढ़ावों के कारण इसमें हर दिन परिवर्तन किए जाने आवश्यक नहीं हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ की एक विशेष एजेंसी है, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अथवा आई.एम.एफ. कहा जाता है। आई.एम.एफ. के पास सभी देशों की मुद्राओं के कोष होते हैं जिन्हें सम्बन्धित सदस्य देशों द्वारा अपने निर्धारित कोटे के अनुसार जमा कराया जाता है।

जब किसी एक सदस्य देश में अस्थायी तौर पर किसी एक विशेष विदेशी मुद्रा की कमी पड़ती है तो वह अपने कोटे अथवा अन्य किसी विशेष व्यवस्था के अन्तर्गत आई.एम.एफ. कोष में से इस मुद्रा को निकाल सकता है। जब उस मुद्रा की पूर्ति उस देश में पुनः ठीक हो जाती है तो वह देश उस मुद्रा को जो उसने निकाली थी, लौटा देता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के माध्यम से विदेशी मुद्राओं की अनापेक्षित मांगों को अस्थायी तौर पर पूरा किया जा सकता है। यह अस्थायी मांग के उतार-चढ़ावों के प्रभावों से रक्षा कर, यदि पूरी तौर पर नहीं तो कम से कम किसी एक सीमा तक तो अवश्य ही विनिमय की दरों को स्थिरता प्रदान करने में सहायता प्रदान करता है।

इससे, यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम आई.एम.एफ. अथवा विदेशों से अन्य तरीकों से ऋण लेने के अस्थायी प्रबंधों का हिसाब न लगाएं तो विदेशों से हमारी खरीदों अथवा हमारे आयातों का भुगतान या तो हमें अपने निर्यातों से करना होगा या फिर देश के विदेशी विनिमय कोष कम हो जाएंगे।

भारतीय रिजर्व बैंक विदेशी विनिमय की खरीद व बिक्री को नियन्त्रित करता है तो हमारी अर्थव्यवस्था के विदेशी विनिमय कोषों के रख-रखाव की जिम्मेवारी भी उसी की होती है। अत: स्वाभाविक रूप से यदि किसी एक वर्ष में हमारे कुल आयातों का मूल्य कुल निर्यातों से अधिक होता है तो उस वर्ष व्यापार के कारण भारतीय रिजर्व बैंक के कोष में जितना विदेशी विनिमय आता है उससे अधिकार निकल जाता है। किसी एक वर्ष में वस्तुओं के आयातों एवं निर्यातों को बताने वाले खाते को व्यापार-शेष कहा जाता है। जब इस खाते में पूंजी प्रवाह को भी शामिल कर लिया जाता है तो उसे भुगतान शेष कहा जाता है (इसका वर्णन हम यहां नहीं करेंगे)। यदि निर्यात आयातों से अधिक है तो एक देश के व्यापार-शेष को अनुकूल और यदि आयात निर्यातों से अधिक है तो उसे प्रतिकूल कहा जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि पहले मामले में तो हमारे विदेशी विनिमय कोषों में वृद्धि होती है, जबकि दूसरे मामले में इनमें कमी आती है। जब तक कि विदेशों से उधार लेकर उसे पूरा नहीं कर लिया जाता, उसे भुगतान-शेष खाते में दिखाया जाता है।

भारत की अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार का महत्त्व

विदेशी व्यापार से प्रत्येक देश को लाभ होता है। इसका कारण यह है कि वह शेष-संसार से लाभदायक ढंग से उन वस्तुओं को खरीदं सकता है जिनका अपने ही देश में उत्पादन करने पर जितनी लागत आती है उसकी तुलना में वे विश्व-बाज़ार में सस्ती उपलब्ध रहती हैं। इसी तरह यह शेष-संसार को उन वस्तुओं की बिक्री कर सकता है जिनका वह अधिक कुशलता से अर्थात् दूसरे देशों की तुलना में सस्ता उत्पादन कर सकता है।

जहां तक आयातों का सवाल है इनसे अर्थव्यवस्था को कई तरीकों से लाभ मिलता है। प्रथम, आयातों के द्वारा यह अनिवार्य उपभोक्ता वस्तुओं की किसी भी कमी को पूरा कर सकती है। उदाहरण के लिए, एक खराब सूखा वर्ष में, भारत खाद्यान्न की एक निश्चित मात्रा का आयात करता है जो इसकी सार्वजनिक

वितरण एवं राशन प्रणाली के दबाव को कम कर देता है। द्वितीय, अर्थव्यवस्था को कुछ ऐसी पूंजी वस्तुओं की भी आवश्यकता होती है जिनका या तो यह बिल्कुल भी उत्पादन नहीं कर सकती अथवा बहुत कुशलता से उत्पादन नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए, भारत को विकसित देशों से विभिन्न प्रकार की मशीनरी के आयात करने की आवश्यकता है। तृतीय, अर्थव्यवस्था को अपने उद्योगों व कृषि के लिए पैट्रोलियम उत्पाद अथवा उर्वरक जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण इन्पुट्स के आयात की आवश्यकता है जिनमें यह आत्मनिर्भर नहीं है।

इसी तरह, हम यह देख सकते हैं कि अर्थव्यवस्था को कुछ विशेष वस्तुओं के उत्पादन में प्राप्त तुलनात्मक लाभ के अलावा, कम से कम दो महत्त्वपूर्ण कारणों से निर्यात उद्योग भी अर्थव्यवस्था के लिए महत्त्वपूर्ण है। प्रथम, चाय, जूट जैसे कुछ ऐसे उद्योग हैं जिनका घरेलू बाज़ार पर्याप्त बड़ा नहीं है। केवल विश्व बाज़ारों में बेचकर ही देश इन उद्योगों को उस पैमाने पर चला सकता है जो लाभदायक पैमाना है। द्वितीय, जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं कि निर्यात आयातों का भुगतान करते हैं। चूंकि कुछ वस्तुओं का आयात करना अर्थव्यवस्था के लिए बहुत ही आवश्यक है, अतः विदेशी बाज़ारों में इन वस्तुओं को खरीदने के लिए आवश्यक विदेशी विनिमय कमाने की दृष्टि से पर्याप्त निर्यात करना भी ज़रूरी है।

भारत के विदेशी व्यापार का आकार

1988-89 में भारत ने 27693 करोड़ रुपए की वस्तुओं का आयात किया था। किन्तु निर्यात केवल 20281 करोड़ रुपए के ही थे। इस प्रकार, 1988-89 में व्यापार-शेष के खाते में 7412 करोड़ रुपए का घाटा था। 1987-88 में यह घाटा 6658 करोड़ रुपए था जो यह बताता है कि 1988-89 में प्रचलित कीमतों पर हमारे व्यापार की स्थिति कुछ खराब हो गई थी।

निर्यात एवं आयात की मुख्य मदें

हमारे निर्यातों की मुख्य मदें हैं : खल, तम्बाकू, मछली, चाय, कॉफी, चीनी, काजू गिरी, मूंगफली, लोहा अयस्क, सूती वस्त्र, जूट वस्तुएं, चमड़े की वस्तुएं, कुछ इंजीनियरिंग वस्तुएं रासायनिक उत्पाद एवं हस्तशिल्प वस्तुएं।

हमारे आयातों की मुख्य मदें हैं : पेट्रोलियम उत्पाद, खाद्य तेल, रासायनिक पदार्थ, उर्वरक, विशिष्ट इस्पात, मशीनरी, परिवहन उपकरण, कच्चा कपास, कच्ची ऊन और कुछ मात्रा में आज।

भारत की व्यापार शर्त

भारत के निर्यातों की भौतिक मात्रा लगातार बढ़ती जा रही है और इसी प्रकार उनकी कीमतें भी बढ़ती जा रही हैं। किन्तु दुर्भाग्य से भारत के लिए, हमारे निर्यात मदों की कीमतें उतनी तेज़ी से अथवा उतनी मात्रा में नहीं बढ़ पातीं जितनी मात्रा में पेट्रोलियम उत्पाद और उर्वरक जैसे हमारे कुछ महत्त्वपूर्ण आयातों की कीमतें बढ़ती हैं। अतः, हमें आयातों की एक निश्चित मात्रा के बदले हर वर्ष ज्यादा ही ज्यादा निर्यातों का भुगतान करना पड़ता है। इसका अर्थ है कि शेष विश्व के साथ भारत की ''व्यापार-शर्त'' लगातार बिगड़ती जा रही है।

भारत के निर्यातों और आयातों की दिशा

1987-88 में हमारे निर्यातों का आधे से अधिक भाग पश्चिमी यूरोप के विकसित देशों संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, और जापान को गया ; लगभग एक-तिहाई भाग पूर्वी यूरोप एवं अन्य विकासशील देशों को गया और केवल एक छोटा-सा भाग मध्य-पूर्व तेल उत्पादक देशों को गया।

उसी वर्ष में हमारा आयातों का आधे से अधिक भाग विकसित देशों से था एक-चौथाई भाग पूर्वी यूरोपीय देशों एवं अन्य विकासशील देशों से था और एक काफी बड़ा भाग (15 प्रतिशत) मध्य-पूर्व के तेल उत्पादक देशों से था।

नीचे की तालिका 17 से 1987-88 के वर्ष के हमारे आयातों एवं निर्यातों की दिशा को बताया गया है।

तालिका-17
भारत के निर्यातों और आयातों की दिशा
(1987-88)

देश का प्रकार	भारत के निर्यात में हिस्सा (%)	भारत के आयात हिस्सा (%)
1. विकसित (पश्चिमी यूरोप सं.रा.अ. कनाडा, आस्ट्रेलिया, जापान)	59	60
2. विकासशील (पूर्वी यूरोप व अन्य विकासशील देश)	31	25
3. तेल-उत्पादक (मध्य-पूर्व) देश	6	15
4. अन्य	4	नगण्य
	100	100

अभ्यास-प्रश्न

1. "भारत जैसे विकासशील देश में जिसमें एक बड़ा कृषि क्षेत्र होता है, तीन विशेष प्रकार की बेरोजगारी पाई जाती है" .... क्या आप इस कथन को समझा सकते हैं ?
2. भारत की कार्यशील जनसंख्या पर संक्षिप्त नोट लिखिए।
3. भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए कृषि कितनी महत्त्वपूर्ण है ?
4. भारत के कृषक-परिवारों के वर्गीकरण को बताइए।
5. मध्यस्थों का उन्मूलन, जोतों की चकबन्दी और जोतों की हदबन्दी जैसे भूमि सुधार के उपाय कृषि में सुधार लाने की दृष्टि से क्या भूमिका अदा कर सकते हैं ?
6. भूमि के अलावा, वे कौन से मुख्य इन्पुट्स हैं जिनकी भारतीय कृषि को आवश्यकता रहती है।
7. भारतीय कृषि की भावी सम्भावनाओं पर एक नोट लिखिए।
8. क्या आप समझा सकते हैं कि कृषि एवं उद्योग कैसे एक-दूसरे पर निर्भर हैं ?
9. समझाइए कि भारत में सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र के उद्यमों वाले औद्योगिक ढांचा का गठन कैसा है ?
10. भारतीय अर्थव्यवस्था में ग्राम उद्योगों के महत्त्व पर एक नोट लिखिए।
11. भारत में (अ) छोटे पैमाने के उद्योगों एवं (ब) बड़े पैमाने के उद्योगों को विकसित करने के लिए क्या कदम उठाए गए हैं ?
12. उद्योग की उत्पादकता से आप क्या समझते हैं ?
13. बहुत से भारतीय उद्योगों में निम्न उत्पादकता के क्या मुख्य कारण हैं ?
14. भारतीय अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार के महत्त्व और भारतीय निर्यातों व आयातों की दिशा पर एक नोट लिखिए।

❑❑❑